भूमिका

यह प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इस में सुकेशा आदि ६ ऋषिपुत्रों ने (जो ब्रह्मविद्या के परम जिज्ञासु थे) पिप्पलाद ऋषि के समीप जाकर क्रमशः ६ प्रश्न किये हैं, इस लिये इस उपनिषद् का ही प्रश्न नाम पड़गया। उक्त छहों प्रश्नों में पहिले तीन प्रश्न अपरा विद्या विषयक हैं और पिछले तीन परा विद्या विषयक। जो कि अपरा विद्या का ज्ञान हुवे बिना परा विद्या में प्रवेश दुस्तर है, इस लिये दीर्घदर्शी आचार्य ने प्रथम प्रश्न में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन किया है, दूसरे और तीसरे में प्राकृतपदार्थों में सर्वोपरि प्राण का माहात्म्य दिखलाते हुवे अपानादि उस के विभागों का वर्णन किया है। चौथे में उस के निमित्त आत्मा का (जहां से पराविद्या का आरम्भ होता है) निरूपण किया है, पांचवे में साधक प्रणव और छठे में वाच्य ब्रह्म का अनुशासन करते हुवे इस उपनिषद् की समाप्ति की है। अनुवाद की मूलपरता और सरलता का अनुभव पाठक स्वयं करेंगे, उस के विषय में कुछ लिखना हमारा काम नहीं है। यह चौथी उपनिषद् है जो हमारे अनुवाद से परिवर्द्धित होकर विद्यारसिकों के दृष्टिगोचर होती है, अतः पश्चात् मुण्डकोपनिषद् भी जो दशों उपनिषदों में प्रसिद्ध है, शीघ्र ही पाठकों के दृष्टिगोचर होगी॥

अनुवादक

ओ३म्

-(अथ)-

प्रश्नोपनिषत् प्रारभ्यते

तत्र प्रथमः प्रश्नः

सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

पदार्थः—(सुकेशा, च, भारद्वाजः) भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, (शैव्यः, च, सत्यकामः) शिवि का पुत्र सत्यकाम, (सौर्य्यायणी, च, गार्ग्यः) सौर्य्य ऋषि का पुत्र गर्ग कुलोत्पन्न गार्ग्य, (कौशल्यः, च, आश्वलायनः) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (भार्गवः, वैदर्भिः) भृगुकुलोत्पन्न विदर्भि का पुत्र वैदर्भि, (कबन्धी, कात्यायनः) और कत्य का युवापुत्र कात्यायन कबन्धी (ते, ह, एते, ब्रह्मपराः, ब्रह्मनिष्ठाः) वे ये ब्रह्म

में तत्पर और ब्रह्मनिष्ठ (परं, ब्रह्म, अन्वेषमाणाः) पर ब्रह्म का अन्वेषण करते हुवे (ह, वै) निश्चय (एषः) यह (तत्, सर्वम्, वक्ष्यति, इति) जो हमारा अभीष्ट है, उस सब को कहेगा, इस आशा से (ते, ह, समित्पाणयः) वे प्रसिद्ध समिध हाथ में लिये हुवे (भगवन्तं, पिप्पलादम्) भगवान् पिप्पलाद ऋषि के (उपसन्नाः) समीप गये ॥ १ ॥

भावार्थः-सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी ये ६ ऋषिपुत्र जो अपरा विद्या में निष्णात होने से ब्रह्मपर और ब्रह्मनिष्ठ थे अर्थात् वेद वेदाङ्गों को पढ़ने से उत्कृष्ट ब्रह्म की जिज्ञासा इन को उत्पन्न हुई थी (इस से इन का ब्रह्मज्ञान के प्रति अनुराग दिखलाया गया है) परब्रह्म का अन्वेषण (खोज) करते हुवे जिज्ञासुभाव से समित्पाणि होकर (यह भाव इन की जिज्ञासा को सूचित करता है) भगवान् पिप्पलाद ऋषि के (इस आशा से कि यह हमारी प्यास बुझावेगा) पास पहुंचे ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिरुवाच-भूय एव तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्याम: सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

पदार्थः-(तान्) उन को (सः, ऋषिः) वह ऋषि (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (भूयः, एव) फिर भी

(तपसा) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रिय-संयम से (श्रद्धया) आस्तिक बुद्धि से युक्त होकर (संवत्सरम्) एक वर्ष तक (संवत्स्यथ) मेरे पास रहो, तदनन्तर (यथाकामम्) यथेष्ट (प्रश्नान्) प्रश्नों को (पृच्छथ) पूछो (यदि) जो (विज्ञास्यामः) हम जानते होंगे वा तुम को अधिकारी जानेंगे तो (सर्वम्) सब (ह) स्पष्ट रूप से (वः) तुम्हारे प्रति (वक्ष्यामः, इति) वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

भावार्थः—पिप्पलाद ऋषि ने उन छहों ऋषिपुत्रों से कहा कि यदि तुम फिर भी (चाहे पहिले इन का सेवन कर चुके हो) तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा को धारण करके एक वर्ष तक मेरे पास रहो, इस के अनन्तर अपनी इच्छानुसार प्रश्नों को पूछो, यदि मैं जानता हूंगा (इस से आचार्य अपनी न्यूनता नहीं, किन्तु निरभिमानता जतलाते हैं) अथवा तुम को अधिकारी समझूंगा, तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा। आज कल के नवयुवकों को, जो विना किसी साधन के केवल बातोंनी जमाखर्च से ब्रह्मज्ञानी बनना चाहते हैं, तनिक इस पर ध्यान देना चाहिये ॥ २ ॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ ।
भगवन् ! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजा-यन्त इति ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अथ) एक वर्ष के पश्चात् (कबन्धी, कात्यायनः) कत्य के युवापुत्र कबन्धीने (उपेत्य) पास आकर (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (ह, वै) [निश्चयार्थक अव्यय] (कुतः) किस से (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (प्रजायन्ते, इति) उत्पन्न होतीं हैं? ॥ ३ ॥

भावार्थः-ऋषि की आज्ञानुसार एक वर्ष तक यथोद्दिष्ट नियमों का पालन करते हुवे इन्होंने अपने को अधिकारी सिद्ध कर दिखाया। तब कबन्धी ने ऋषि के पास जाकर यह प्रश्न किया कि भगवन् ! ये प्रजायें अर्थात् चराचर सृष्टि किस से किस प्रकार उत्पन्न हुई है॥३॥

तस्मै स होवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥४॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह ऋषि पिप्पलाद (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (वै) निश्चय (प्रजाकामः) सृष्टि के बनाने की इच्छा करता हुवा (सः, प्रजापतिः) वह प्रजा का स्वामी (तपः, अतप्यत) तप तपता है (तपः, तप्त्वा) तप को तप कर (सः) वह (रयिं, च, प्राणं च) रयि और प्राण रूप (मिथुनम्) जोड़े को (उत्पादयते) उत्पन्न करता है कि (एतौ)

ये दोनों (मे) मेरी (बहुधा, प्रजाः) बहुविध सृष्टि को (करिष्यतः, इति) उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थः—पिप्पलाद ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुवे कहते हैं कि जब परमात्मा सृष्टि के बनाने की इच्छा करता है (इच्छा से यहां ईक्षणशक्ति लेनी चाहिये न कि वासना) तो सब से पहिले ज्ञानमय तप करता है " यस्य ज्ञानमयं तपः " उस का ज्ञान ही तप है । दूसरे शब्दों में ज्ञान और क्रिया के योग का नाम तप है, इस को प्रकृति और पुरुष का संयोग भी कहते हैं । अर्थात् प्रजापति परमात्मा अपने गुण विज्ञान को प्रकृति की शक्ति क्रिया में मिलाकर उस से एक जोड़ा उत्पन्न करता है, जिन को रयि और प्राण कहते हैं, जिन से यह सब सृष्टि उत्पन्न होती है । इन दोनों का विशेष व्याख्यान आगे मिलेगा ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः । रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(ह, वै) प्रसिद्ध (आदित्यः) सूर्य वा अग्नि ही (प्राणः) प्राणशब्दवाच्य है (चन्द्रमाः, एव) सोम वा अन्न ही (रयिः) रयिशब्दवाच्य है (यत्, मूर्त्तं, च, अमूर्त्तं, च) जो स्थूल सूक्ष्म रूप जगत् है (एतत्, सर्वम्) यह सब (रयिः) रयिशब्दवाच्य है

(तस्मात्) इस लिये (रयिः) रयि शब्द का विशेष वाच्यार्थ (मूर्त्तिः, एव) स्थूल ही है ॥ ५ ॥

भावार्थः—संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखने में आते हैं, एक भोग्य और दूसरे भोक्ता, इन्हीं को आद्य और अत्ता भी कहते हैं। इन में भोग्य स्थूल और भोक्ता सूक्ष्म होते हैं और जो भोग्य सूक्ष्म हैं वे भी भोक्ता की अपेक्षा स्थूल ही हैं। ऊपर की श्रुति में प्राण को आदित्य अर्थात् अग्नि रूप से भोक्ता कहा गया है और रयि को अन्न रूप से भोग्य, जो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि ही संसार के सब पदार्थों को भक्षण करता है। यथा-सूर्य रूप से संसार के समस्त रसों को, भौतिक रूप से समीपस्थ अनेक पदार्थों को और जाठराग्नि रूप से अन्नादि विविध पदार्थों को अग्नि अदन करता है। इसी प्रकार रयि जिस को सोम कहा गया है, नानारूप से उस अग्नि का भक्ष्य बनता है, जैसे—रस रूप से सूर्य का, द्रव रूप से भौतिक अग्नि का और अन्नरूप से जाठराग्नि का आद्य बनता है। इस प्रकार प्राण अग्निमय होने से भोक्ता और रयि अन्न मय होने से भोग्य है, बस यही दो शक्तियां हैं, जिन के योग से यह जगत् बना है॥

अब रही यह बात कि श्रुति में प्राण को आदित्य और रयि को चन्द्रमा क्यों कहा गया? इस का उत्तर यही है कि अग्नि का सूर्य से और अन्नादि ओषधियों का चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध होने के कारण तथा सूर्य

के भोक्तृशक्तिउत्तेजक होने से एवं चन्द्रमा के भोग्य-शक्तिउद्दीपक होने से प्राण को आदित्य और रयि को चन्द्रमा कहा गया है। अगली श्रुतियों में भी इसी का व्याख्यान है ॥ ५ ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अथ) अब (आदित्यः) सूर्य (उदयन्) उदय होता हुवा (यत्) जो (प्राचीं, दिशम्) पूर्व दिशा को (प्रविशति) प्रवेश करता है (तेन) उस से (प्राच्यान्, प्राणान्) पूर्वदिशास्थ वायुओं को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है (यत्, दक्षिणाम्) जो दक्षिण दिशा (यत्, प्रतीचीम्) जो पश्चिम (यत्, उदीचीम्) जो उत्तर (यत्, अधः) जो नीचे (यत्, ऊर्ध्वम्) जो ऊपर (यत्, अन्तराः, दिशः) जो बीच की विदिशाओं को (यत्, सर्वम्) जो सब को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तेन) उस प्रकाश से (सर्वान्, प्राणान्) सम्पूर्ण वायुमण्डल को (रश्मिषु) किरणों में (सन्निधत्ते) रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में प्राण को आदित्य कहा गया था, इस श्रुति में उस का आदित्य से संबन्ध दिखलाते हैं:—सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण दिशाओं के सब पदार्थों को व्याप्त करता हुवा वायुमण्डल में प्रवेश करता है। शुद्ध हुवा वायु प्राणाश्रित भोक्तृशक्ति को (जो अग्निमय है) उद्दीप्त करता है। जो भोक्तृशक्ति रात्रि में सुषुप्ति के कारण दबी रहती है, वही दिन में सूर्य की किरणों से जाग्रत् अवस्था के कारण उद्दीप्त हो जाती है, इस लिये सूर्य ही उस का उद्दीपक है। अब यह देखना चाहिये कि वह भोक्तृशक्ति प्राणों से क्या सम्बन्ध रखती है ? इस के उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्राण ही भोक्तृशक्ति का आधार है, बिना प्राण के भोक्तृशक्ति ठहर ही नहीं सकती, अप्राणियोंमें भोक्तृशक्ति का अभाव इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बस इसी लिये श्रुति में कहा गया है कि सूर्य किरणों द्वारा वायु के साथ प्राणों में प्रविष्ट हो कर उन की शक्ति को उत्तेजित करता है॥६॥

सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-
रुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(सः, एषः) वह यह (वैश्वानरः) सब जीवों में प्रविष्ट (विश्वरूपः) अनेक प्रकार का (प्राणः) प्राणरूप वायु है, वही (अग्निः) आदित्य रूप से (उदयते) उदय होता है। (तद्, एतत्) यही बात (ऋचा) मन्त्र के द्वारा (अभि, उक्तम्) कही गई है ॥ ७ ॥

भावार्थः—वह यही प्राण जिस का ऊपर वर्णन किया गया है और जो अनेक रूप से प्राणियों में विचर रहा है, आदित्य रूप से उदय होता है अर्थात् सूर्य के प्रकाश से उत्तेजित होता है, यही बात अगले मन्त्र में भी कही गई है कि:—॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

पदार्थः—(विश्वरूपम्) सब पदार्थों में व्याप्त (हरिणम्) किरणों वाले (जातवेदसम्) सब को जगाकर सुषुप्ति से चेतना में लाने वाले (परायणम्) सब के परम आश्रय (एकं, ज्योतिः) जगत् के एकमात्र चक्षु (तपन्तम्) प्रकाशमान सूर्य्य को विद्वान् लोग जानते हैं। कैसा जानते हैं? कि(सहस्ररश्मिः) हज़ारों किरण वाला (शतधा, वर्तमानः) अनेक प्रकार से वर्तमान (प्रजानां, प्राणः) प्रजाओं का प्राण अर्थात् जीवनाधार (एषः, सूर्य्यः) यह सूर्य्य (उदयति) प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ की पुष्टि में ही यह मन्त्र दिया गया है। इस में सूर्य का प्राणोत्तेजक होना दिखलाया गया है। जब सूर्य उदित होकर अपनी किरणों से प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करता है, तब सब प्राणि

समूह उद्बोधित होकर अपना कार्य करने में समर्थ होता है, सूर्य के अभाव में प्राणी प्राणों के होते हुवे भी जीवें के सुषुप्तिगत होने से जड़वत् बने रहते हैं, सूर्य ही अपने प्रकाश से उन को जाग्रत् में लाकर चेष्टावान् बनाता है। जैसे व्यष्टिगत प्राणों को विकाश देना सूर्य का काम है, ऐसे ही समष्टिगत प्राण अर्थात् वायुमण्डल को भी फैलाना और बढ़ाना सूर्य का ही काम है। इस बात को पदार्थविद्या (सायन्स) के जानने वाले भले प्रकार जानते हैं कि गर्मी का हवा पर क्या प्रभाव पड़ता है? बस इस से सिद्ध है कि प्राण (वायु) का पोषक वा उत्तेजक एकमात्र अग्नि (आदित्य) ही है। इसी लिये इस प्रसङ्ग में उस को प्राण कहागया है॥ ८॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चो-त्तरञ्च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्यु-पासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। तएव पुनरावर्त्तन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

पदार्थः-(संवत्सरः, वै) कालरूप संवत्सर ही (प्रजापतिः) अपने में प्रजा को धारण करने से प्रजा-पति है (तस्य) उस के (दक्षिणं, च, उत्तरं, च) दक्षिणा-यन और उत्तरायण ये (अयने) दो अयन भाग हैं।

(तद्, ये, ह, वै) सो निश्चय करके जो लोग (तद्, इष्टापूर्ते, कृतम्, इति, उपासते) तपोयज्ञादि-इष्ट और वापीकूप तड़ागादि-पूर्त्त इन कर्त्तव्य कर्मों को ही कर्त्तव्य की पराकाष्ठा जानकर अनुष्ठान करते हैं, अकर्त्तव्यों का नहीं (ते,) वे (चान्द्रमसम्, एव, लोकम्) चन्द्रलोक को अथवा रयि सम्बन्धी अन्नादि ऐश्वर्य को हो (अभि-जयन्ते) सब ओर से जीत लेते हैं (ते,एव) वे, ही (पुनः) फिर (आवर्त्तन्ते) संसार में लौटते हैं (तस्मात्) इसलिये (प्रजाकामाः) सन्तानादि ऐश्वर्य की कामना वाले (एते, ऋषयः) इष्टापूर्त के उपासक ये ऋषि लोग (दक्षिणम्) दक्षिणायनसम्बन्धी चन्द्रलोक को (प्रतिपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (यः, पितृयाणः) जो पितरों अर्थात् उक्त इष्टा पूर्त की उपासना से पुनः आवृत्त होने वालों का मार्ग है (एषः,ह,वै,रयिः) यही निश्चय करके रयि कहाता है॥९॥

भावार्थः—चौथे श्लोक में कहा गया था कि प्रजापति ने सृष्टि बनाने के लिये सब से पहिले प्राण और रयि रूप जोड़े को उत्पन्न किया, जिन का कि संक्षेप से वर्णन भी हो चुका है। अब इस श्लोक में उन दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति दिखलाते हैं:—

आदित्य रूप से प्राण और चन्द्र रूप से रयि, दोनों मिल कर संवत्सर रूप सन्तान को (जिस के दक्षिणायन और उत्तरायण दो विभाग हैं) उत्पन्न करते हैं, जिन में से दक्षिणायन में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ जाने से

मन्द हो जाती हैं, इसी लिये उस का चन्द्रलोक से, विशेष सम्बन्ध माना गया है। इसी में वर्षा ऋतु के होने से फल, फूल, अन्न, ओषधि और वनस्पति आदि प्राणियों के भोग्य पदार्थ बहुतायत से उत्पन्न होते हैं, जिन के द्वारा इष्टापूर्त का अनुष्ठान किया जा सकता है। यज्ञ और प्रपादानादि कर्मों को इष्टापूर्त्त कहते हैं, इन का कर्त्तव्यबुद्धि से आचरण करने वाले अपने पुण्यप्रताप से चन्द्रलोक को (जो रयि का अधिष्ठान है) जीतते हैं अर्थात् चन्द्रलोक में जाकर जन्म लेते हैं अथवा यहीं पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्यादि के स्वामी बनते हैं। यही पितृयाण है, जिस का दक्षिणायन से विशेष सम्बन्ध है। इष्टापूर्त के उपासक इसी के द्वारा भोगैश्वर्य को प्राप्त होते हैं। जो कि संवत्सर ही ऋतुपरिवर्त्तन द्वारा सम्पूर्ण प्रजा की पुष्टि और स्थिति का अधिकरण है, इसी लिये श्रुति में उस को प्रजापति कहा गया है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते।
एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेषः श्लोकः ॥ १० ॥

पदार्थः—(अथ) और (उत्तरेण) उत्तरायण के द्वारा (तपसा) तप से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियदमन से

(श्रद्धया) श्रद्धा से (विद्यया) परा विद्या से (आत्मानम्) प्राण के भी आधार आत्मा को (अन्विष्य) खोज कर (आदित्यम्) सूर्यलोक को (अभि-जयन्ते) सब ओर से जीतते हैं (एतत्, वै) यही (प्राणानाम्) प्राणों का (आयतनम्) स्थान है (एतत्) यह (अमृतम्) अविनाशि (अभयम्) भयरहित है (एतत्) यह (परायणम्) परम पद है (एतस्मात्) इस से (न पुनरावर्त्तन्ते) फिर लौट कर नहीं आते (इति) इस प्रकार (एषः) यह (निरोधः) पाप और तज्जन्य संस्कारों की रुकावट है (तत्) सो (एषः) यह (श्लोकः) अथर्व ९। ५। ९ का मन्त्र भी है कि:- ॥ १० ॥ (देखो अगला मन्त्र)

भावार्थः—इस से पहिली श्रुति में दक्षिणायन और उस से विशेष सम्बन्ध रखने वाले इष्टापूर्त्त आदि शुभ कर्मों का फल बतलाया गया था, अब इस श्रुति में उत्तरायण और उस में होने वाले ज्ञानयज्ञ का फल दिखलाते हैं:—तप आदि साधनों से जो विज्ञान के अधिकारी बन कर अविनाशी आत्मा को जानते हैं, वे अपने परमपुरुषार्थ से आदित्य लोक को जीत कर उस परम पद के भागी बनते हैं, जो प्राणों का आश्रय, अमृत, अभय और सारे सुखों की पराकाष्ठा है, उस को पाकर फिर वे नीचे नहीं गिरते। अब यहां पर एक प्रश्न यह होता है कि कर्म के लिये दक्षिणायन और ज्ञान के लिये उत्तरायण क्यों विशिष्ट किया गया? क्या उत्तरायण में

कोई कर्मयज्ञ और दक्षिणायन में ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि उत्तरायण किसी को इष्टापूर्त्तादि कर्म करने से और दक्षिणायन किसी को अध्यात्मयोगादि ज्ञान के साधनों की उपलब्धि से सर्वथा नहीं रोकते, तथापि दक्षिणायन में भोग्यशक्ति के प्रबल होने से अन्नादि भोग्य पदार्थों से होने वाले यज्ञादि कर्मों के करने में सुगमता होती है, इसी लिये चातुर्मास्यादि याग दक्षिणायन में किये जाते हैं। इसी प्रकार उत्तरायण में भोक्तृशक्ति के उद्दीप्त होने से आत्मज्ञान के उपयोगी स्वाध्यायादि ज्ञानोपलब्धि के साधनों में अनुकूलता प्राप्त होती है। अथवा यहां पर अवरपर्याय दक्षिण शब्द है और परपर्याय उत्तर शब्द, अवर कर्म है, इस लिये उस का सम्बन्ध दक्षिणायन से बतलाया गया है, और पर ज्ञान है इस लिये उसका निर्देश उत्तरायण के साथ किया गया है। दूसरा प्रश्न यह है कि कर्म से चन्द्रलोक और ज्ञान से सूर्यलोक का जीतना क्या बात है ? इस का उत्तर यह है कि पांचवीं श्रुति में रयि नाम चन्द्रमा का और आदित्य नाम प्राण का बतला गया था उस के अनुसार इस का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कर्मनिष्ठ (पुरुषार्थी) जन अपने पुरुषार्थ से रयि (ऐश्वर्य) को प्राप्त होते हैं और ज्ञाननिष्ठ (योगी) लोग अपने विज्ञानबल से आदित्य (प्राण) को जीत कर मोक्ष के भागी बनते हैं। अथवा "चदि, आह्लादे" धातु

से चन्द्र शब्द बनता है। जिस स्थान में सुख विशेष हो उसे चन्द्रलोक कहते हैं। तथा "नञ्" पूर्वक " दो, अव-खण्डने" धातु से आदित्य शब्द सिद्ध होता है, जिस का खण्डन (नाश) न हो सके, उसे आदित्य कहते हैं, सो यज्ञादि कर्मों से स्वर्गप्राप्ति और ज्ञान से अखण्डनीय मोक्ष की प्राप्ति सर्वतन्त्र सिद्धान्त है ॥ १० ॥ मन्त्रः—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिवआहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडरआहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

पदार्थः-(परे) कोई आचार्य संवत्सर को (पञ्चपादम्) पांच ऋतुरूप पैरों से स्थित [यहां हेमन्त और शिशिर को एक मान कर पांच ऋतु कही गई हैं] (पितरम्) सब पदार्थों की उत्पत्ति का अधिकरण होने से पितृतुल्य (द्वादशाकृतिम्) बारहमासरूप आकृति [लिङ्ग] वाला (दिवः) द्युलोक के (अर्धे) बीच में (पुरीषिणम्) जल वाला (आहुः) कहते हैं (अथ) और (उ) वितर्क में (परे, इमे, अन्ये) ये कोई अन्य लोग (सप्तचक्रे) सात लोकरूप चक्रों और (षडरे) वसन्तादि छः ऋतुरूप अरों में (विचक्षणम्) विविध प्रकार से लक्षित (अर्पितम्, इति) जुड़ा हुआ (आहुः) कहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः-पूर्वश्लोक में संवत्सर को प्रजापति कहा

गया था, अब इस मन्त्र में उस का प्रजापति होना दिखलाते हैं:-इस मन्त्र में संवत्सर के काल विभाग में दो पक्ष हैं। कोई लोग इस काल रूप संवत्सर को ऐसा मानते हैं कि यह अपने पांच ऋतुरूप पैरों से और बारह मासरूप लिङ्गों से द्युलोक के बीच में स्थित है और कोई ऐसा विभक्त मानते हैं कि यह संवत्सर सात लोकरूप चक्र और छः ऋतुरूप अरों में ठहरा हुवा है। जैसे कि अरों में रथनाभि ठहरी हुई होती है। दोनों पक्षों से काल की व्यापकता और प्रजापति होना सिद्ध है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयःशुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(मासः, वै) मास ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उस का (कृष्णपक्षः, एव) कृष्ण पक्ष ही (रयिः) रयि है (शुक्लः) शुक्लपक्ष (प्राणः) प्राण है (तस्मात्) इस लिये (एते, ऋषयः) ये आत्मदर्शी ऋषि लोग (शुक्ले) शुक्लपक्ष में (इष्टिम्) ज्ञान यज्ञ को (कुर्वन्ति) करते हैं (इतरे) कर्मदर्शी ऋषि (इतरस्मिन्) कृष्णपक्ष में यागादि इष्टि को करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—अब वही संवत्सर व्यष्टि रूप से मास में जो उस का बारहवां भाग है, परिणाम को प्राप्त होता

है। जैसे संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण दो भाग थे, उसी प्रकार उस के परिणाम मास के भी दो खण्ड हैं, जिन को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष कहते हैं। कृष्णपक्ष ही रयि और शुक्लपक्ष ही प्राण है। ऋषि लोग कृष्णपक्ष में विशेष कर यागादि इष्टि और शुक्ल पक्ष में अधिकतर स्वाध्यायादि का उपयोग करते थे। इस का यह अभिप्राय कदापि न समझलेना कि वे कृष्ण पक्ष में ज्ञानयज्ञ और शुक्लपक्ष में कर्मयज्ञ का अनुष्ठान ही नहीं करते थे, किन्तु दक्षिणायन के तुल्य कर्म के लिये विशेष उपयोगी कृष्णपक्ष को और उत्तरायण के समान ज्ञान के लिये विशेष उपयोगी शुक्लपक्ष को मानते थे ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति । ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

पदार्थः—(अहोरात्रः, वै) दिन रात ही (प्रजापतिः) प्रजापति है (तस्य) उस का (अहः, एव) दिन ही (प्राणः) प्राण है (रात्रिः एव) रात ही (रयिः) रयि है। (एते) वे लोग (प्राणम्) प्राणरूप अग्नि को वा शोक्तृशक्ति को (प्रस्कन्दन्ति) क्षीण करते हैं (ये) जो (दिवा) दिन में (रत्या) रति

कारणभूत स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं और (यत्, रात्रौ) जो रात में (रत्या) स्त्री के साथ (संयुज्यन्ते) संयोग करते हैं (तत) वह (ब्रह्मचर्यम्, एव:) ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

भावार्थः—अब वही मासात्मक काल अपने अवयव अहोरात्र में परिणत होता है। उस अहोरात्र के भी दो भाग हैं, जिन को दिन और रात कहते हैं। दिन में भोक्तृ शक्ति प्रबल होती है इस लिये उस को प्राण कहा गया है। रात्रि में भोग्यशक्ति प्रधान होती है, इस लिये उस को रयि (अन्न) कहागया है। अतएव जो लोग दिन में (जब कि भोक्तृशक्ति के प्रबल होने से प्राण वेग पूर्वक अपनी क्रिया करते हैं) स्त्री के साथ मैथुन करते हैं, उन के प्राण क्षीण हो जाते हैं अर्थात् वे मन्दाग्नि होकर निर्बल हो जाते हैं। इस के विपरीत जो रात्रि में (जब कि भोग्य शक्ति के प्रबल होने से प्राण ठहरे हुवे होते हैं) स्त्री के साथ संयोग करते हैं, वे ब्रह्मचारी के समान अपने बल की रक्षा करते हैं। इस प्रासङ्गिक विधिनिषेध के उपरान्त अब प्रकृत विषय का प्रतिपादन किया जाता है कि— ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-
दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अन्नम्, वै) अन्न ही (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक है (ततः) उस से (ह, वै) निश्चय (तद्, रेतः)

वह जगत् का कारण वीर्य उत्पन्न होता है (तस्मात्) उस वीर्य से (इमाः, प्रजाः) ये मनुष्यादि लक्षण वाली विविध प्रजायें (प्रजायन्ते, इति) उत्पन्न होती हैं ॥१४॥

भावार्थः—इस श्रुति में अपने कथन का उपसंहार करते हुवे पिप्पलाद ऋषि प्रश्न के उत्तर को समाप्त करते हैं:—अब वह संवत्सर ऋतुरूप से अन्न में परिणाम को प्राप्त होता है, अन्न से जगत् का कारण वीर्य (बीज) बनता है और उस से फिर क्रमशः यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है। कबन्धी के प्रश्न का अब तक जो कुछ उत्तर दिया गया, यहां पर उस का निगमन किया गया है। अर्थात् प्राणरूप आदित्य और रयि रूप चन्द्र के जोड़े से संवत्सर की उत्पत्ति, संवत्सर से क्रमशः अन्न का विपरिणाम, अन्न से वीर्य और उस से सारी प्रजा की उत्पत्ति कह कर आचार्य प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हैं ॥ १४ ॥

तद्ये ह तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

पदार्थः—(तत्) सो (ह) प्रसिद्ध (ये) जो गृहस्थ (प्रजापतिव्रतम्) ऋतुकाल में स्वदारगमनरूप व्रत को (चरन्ति) पालन करते हैं (ते) वे (मिथुनम्) पुत्र पुत्री को (उत्पादयन्ते) उत्पन्न करते हैं और (येषाम्) जिन के (तपः) द्वन्द्वसहन और (ब्रह्मचर्यम्) इन्द्रियदमन

ये दो साधन हैं (येषु) जिन में (सत्यम्) मन, वाणी और कर्म की एकता (प्रतिष्ठितम्) वर्तमान है (तेषाम् एव) उन्हीं का (एषः) यह (ब्रह्मलोकः) ब्रह्मलोक है ॥१५॥

भावार्थः—इस श्रुति में इष्टापूर्तादिस्मार्त कर्मों और ज्ञान का फल दिखलाया गया है। जो गृहस्थ इन्द्रियनिग्रह पूर्वक ऋतुकाल में ही केवल अपनी स्त्री से समागम करते हैं, वे अमोघवीर्य होकर यथेष्ट और उत्तम सन्तान को उत्पन्न करते हैं और जो लोग अपने जीवन में तप, ब्रह्मचर्य और सत्य का आचरण करते हैं उन्हीं के लिये ब्रह्मलोक है ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

पदार्थः–(तेषाम्) उन का (असौ) यह (विरजः) निर्मल (ब्रह्मलोकः) मोक्षाख्य परमपद है (येषु) जिन में (जिह्मम्) कुटिलता और (अनृतम्) असत्य (न) नहीं है तथा (माया, च) कपट भी (न, इति) नहीं है ॥ १६ ॥

भावार्थः–इस श्रुति में भी तत्त्व ज्ञान का फल प्रतिपादन किया गया है। विना तत्त्वज्ञान के मनुष्य कुटिलता, असत्य और माया (मिथ्याचार) से सर्वथा नहीं बच सकता और जब तक इन का कुछ भी अंश रहता है तब तक उस विशुद्ध और सर्वोच्चपद का (जिस को

ब्रह्मलोक तथा परमपद भी कहते हैं और जो सारे ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा है) अधिकारी नहीं बन सकता। अतएव तत्त्वज्ञान के प्रसाद से जिन का हृदय सरल, शुद्ध, सम और निष्कपट होगया है, वेही महात्मा उस परमपद के भागी होते हैं, इतर नहीं ॥ १६ ॥

इति प्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥ १ ॥



अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इन पिप्पलाद ऋषि से (भार्गवः, वैदर्भिः) भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि ने (पप्रच्छ) पूछा कि—(भगवन्) हे महाभाग! (कति, एव, देवाः) कितने देव (प्रजाम्) शरीर को (विधारयन्ते) धारण करते हैं। (कतरे) कितने (एतत्) इस को (प्रकाशयन्ते) प्रकाशित करते हैं (पुनः) फिर (एषाम्) इन में (कः) कौन (वरिष्ठः, इति) श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भावार्थः—पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण को अत्ता और भोक्ता कहा गया था, अब इस प्रश्न में उस का भोक्तृत्व और अत्तृत्व सिद्ध किया जाता है। अब पहिले प्रश्न का उत्तर हो जाने पर भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि नामक दूसरा शिष्य उक्त आचार्य से पूछता है कि भगवन्! इस शरीर को (जो आत्मा का अधिष्ठान है) कौन २ से देव धारण करते हैं? और कौन इस को प्रकाशित करते हैं? और उन शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में सब से बड़ा कौन है? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस पूछने वाले के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोलाः—(ह, वै) प्रसिद्ध (एषः) यह (आकाशः) आकाश (वायुः) पवन (अग्निः) पावक (आपः) जल और (पृथिवी) पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत और (वाङ्मनः) वाणी और मन (चक्षुः श्रोत्रं, च) नेत्र और कर्णेन्द्रिय [ये उपलक्षणमात्र हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के] (देवः) देव हैं (ते) वे (प्रकाश्य) शरीर को प्रकाशित करके (अभिवदन्ति) परस्पर स्पर्द्धा करते हुवे कहते हैं कि (वयम्) हम (एतत्,

-चाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामः) धारण करते हैं अर्थात् पृथक् २ विना दूसरे की सहायता के हम इस को धारण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः-अब आचार्य दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं कि आकाशादि पञ्चमहाभूत जो इस शरीर को बनाते हैं तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रिय और चक्षुः आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, यही सब इस शरीर का धारण और प्रकाशन करते हैं । इसी लिये इन की देवसंज्ञा है। ये सब आपस में एक दूसरे की स्पर्द्धा करते हुवे विवाद करते हैं * कि हम ही स्वतन्त्रता से इस शरीर को धारण करते हैं अर्थात् इन में से प्रत्येक दूसरे की उपेक्षा करता हुवा अपने को ही शरीर का मुख्य आधार कहता है ॥ २ ॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोह-मापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभ-ज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥

पदार्थः-(तान्) उन सब से (वरिष्ठः) श्रेष्ठ (प्राणः) प्राण (उवाच) बोला कि (मा) मत (मोहम्) मोह को (आपद्यथ) प्राप्त होओ (अहम्, एव) मैं ही (पञ्चधा) प्राणादि पांच भेदों से (आत्मानम्) अपने को (प्रवि-

* यहां भी पञ्चभूतों और इन्द्रियों का विवाद करना वैसा ही औप-चारिक है जैसा कि केनोपनिषद् में यक्ष और अग्न्यादि का संवाद था । पाठकों को इस आख्यान के उद्देश्य पर दृष्टि रखनी चाहिये, न कि शब्दार्थ पर ॥

भज्य) विभक्त करके (एतत्, वाणम्) इस शरीर को (अवष्टभ्य) स्तम्भवत् होकर (विधारयामि, इति) धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः—जब इस प्रकार पञ्चभूत और इन्द्रियगण आपस में विवाद कर रहे थे, तब उन सब में मुख्य और उन सब का नेता प्राण उन से कहता है कि तुम क्यों मोह (अज्ञान) को प्राप्त होते हो ? तुम में से कोई भी स्वतन्त्र रूप से इस शरीर को धारण करने में समर्थ नहीं है । केवल मैं ही हूं जो अपने पांच विभाग करके अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप से शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर को धारण करता और तुम को भी चलाता हूं। यदि मैं न हूं तो तुम सब मिल कर भी कुछ नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वाएव प्रातिष्ठन्त एवं, वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ते) वे पञ्चभूत और इन्द्रियें (अश्रद्दधानाः) श्रद्धारहित (बभूवुः) हुवे तब (सः) वह प्राण (अभिमानात्) क्रोध से (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (उत्क्रमते, इव) निकलता हुवा सा दीख पड़ा (तस्मिन्, उत्क्रामति) उस के निकलते हुवे (इतरे, सर्वे, एव) अन्य सब ही (उत्क्रामन्ते) निकलने लगते हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के प्रतिष्ठित होने पर (सर्वे, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित होने लगते हैं। (तत्, यथा) सो जैसे (सर्वाः, एव, मक्षिकाः) सारी ही मक्खियें (उत्क्रामन्तम्, मधुकरराजानम्) निकलते हुवे अपने राजा [राजा मक्खी] के पीछे (उत्क्रामन्ते) निकल जाती हैं (च) और (तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने) उस के स्थित होने पर (सर्वाः, एव) सब ही (प्रातिष्ठन्ते) स्थित हो जाती हैं (एवम्) इसी प्रकार प्राण के आधीन वागादि को जानो। (अथ) तब (ते) वे (वाङ्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रं, च) वाणी, मन, आंख और कान आदि इन्द्रिय (प्रीताः) प्रसन्न हुवे (प्राणम्) प्राण की (स्तुन्वन्ति) स्तुति करते हैं ४

भावार्थः—प्राण के उक्त कथन को चक्षुरादि इन्द्रियों ने उपेक्षा से टाल दिया अर्थात् उस पर विश्वास नहीं किया, तब प्राण क्रोध में आकर शरीर से निकलने लगा, उस के निकलते ही सब इन्द्रिय * भी शरीर से पृथक् हो गये, फिर प्राण का सञ्चार होने पर सब इन्द्रिय भी

* इन्द्रिय शब्द से इन की सूक्ष्मशक्ति का ग्रहण करना चाहिये न कि भौतिक गोलकों का ॥

अपना २ काम करने लगे । जैसे मधुमक्खियां अपने राजा का अनुसरण करती हैं अर्थात् वह मक्खी जो उन की राजा होती है, जब किसी स्थान को छोड़ देती है तो उसी समय सारी मक्खियां वहां से उड़ जाती हैं और जहां जाकर वह सर्दार मक्खी बैठती है, वहीं पर सब जाकर बैठ जाती हैं। इसी प्रकार प्राण सब इन्द्रियों का राजा है, वह जब इस शरीर को छोड़ देता है तो फिर उन के अनुचर वाणी मन आदि शरीर में कैसे और किस के आधार पर रहसकते हैं ? जब सब इन्द्रियों ने प्राण का यह माहात्म्य देखा, तब सब प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतञ्च यत् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(एषः) यह प्राण (अग्निः) अत्ता होकर अग्नि रूप से (तपति) प्रकाशमान है (एषः) यह शरीररूप जगत् का (सूर्यः) सूर्य है (एषः) यह (मघवान्) ऐश्वर्य का हेतु (पर्जन्यः) मेघ है (एषः) यह (वायुः) वेगवान् होने से वायु है (एषः) यह (पृथिवी) शरीर को धारण करने अथवा शरीर में फैला हुवा होने से पृथिवी है (रयिः) शरीर का पोषक होने से चन्द्रमा है (देवः) शरीर और इन्द्रियों का प्रकाशक होने से देव है

(यत्, सत्) जो सूक्ष्म कारण है (च) और (असत्) जो स्थूल कार्य है (च) और (अमृतम्) विनाशधर्मरहित है॥५॥

भावार्थः—अब यहां से द्वितीय प्रश्न के अन्त तक प्राण की स्तुति की गई है। यथार्थ गुणकीर्तन का नाम स्तुति है सो प्राण में जो यथार्थ गुण हैं, उन का इन श्लोकों में वर्णन किया गया है:—

अत्ता होने से प्राण को अग्नि कहा गया है। जैसे संसार में अग्नि के विना पदार्थों का भक्षण और परिपाक नहीं हो सकता। ऐसे ही शरीर में प्राण के विना अन्न का अदन और पाचन नहीं हो सकता। प्राण के शिथिल हो जाने से ही मन्दाग्नि हो जाती है इस लिये प्राण को उपचार से अग्नि कहा गया है। एवमेव जैसे सूर्य संसार को प्रकाशित करता है ऐसे ही प्राण इस शरीर को प्रकाशित करते हैं। सूर्य के विना जैसे संसार अन्धकारमय हो जाता है ऐसे ही प्राण के विना शरीर सूना हो जाता है। इसी कारण प्राण को सूर्य कहा गया है। तथा जिस प्रकार मेघ वर्षा से संसार को जीवनदान देता है इसी प्रकार प्राण के सञ्चार से शरीर जीवित कहलाते हैं, विना वर्षा के जो संसार की गति होती है, वही विना प्राण के शरीर की भी दशा समझनी चाहिये। इसीलिये प्राण को मेघ बतलाया गया है। इसी प्रकार वेगवान् और जीवनाधार होने से वायु, शरीर को धारण करने वाला और उस

में फैला हुवा होने से पृथिवी, शरीर का पोषक होने से चन्द्र और इन्द्रियादि का प्रकाशक होने से प्राण को देव कहा गया है, तथा कारणरूप सूक्ष्म तन्मात्राओं और कार्यरूप स्थूल इन्द्रियों का चलाने वाला होने से सत् और असत् एवं देह से निकलने पर न मरने वाला होने से प्राण को अमृत कहा गया है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ६

पदार्थः-(रथनाभौ) रथनाभि में (अरा इव) अराओं के समान (प्राणे) प्राण में (सर्वम्) सब कुछ (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है । (ऋचः) ऋग्वेद (यजूꣳषि) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद ये तीनों प्रकार के मन्त्र (यज्ञः) इन से होने वाला यज्ञ (क्षत्रम्) शारीरिक बल (च) और (ब्रह्म) आत्मिक बल ये सब प्राण के आश्रित हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः-समस्त कर्मकाण्ड (मनुष्यकर्त्तव्य) के विधायक ऋग्यजुः साम ये तीन प्रकार के मन्त्र हैं । इन्हीं तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्व का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है. इस लिये उस का पृथक् निर्देश नहीं किया । उक्त तीनों प्रकार के मन्त्रों से विधेय जो यज्ञादि कर्म हैं उन का यथाविधि अनुष्ठान प्राण के ही आश्रित है । प्रथम प्रश्न में सिद्ध कर चुके हैं कि भोक्तृ शक्ति या कर्तृ

शक्ति प्राण के ही आधीन है, विना प्राण के जब कर्त्तृत्व ही नहीं तो फिर कर्म कैसे सिद्ध हो सकता है। हां, प्राणरहित जड़ पदार्थ मन्त्र या यज्ञादि के उपयोग्य हो सकते हैं, न कि उपयोक्ता। उपयोग्यसे उपयोग लेना उपयोक्तृशक्ति के आधीन है जो कि प्राण के आश्रित है। यज्ञ शब्द से यहां सामाजिक बल का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सामाजिक अभ्युदय के लिये ही यज्ञ किया जाता है, इस में शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण भी है:-"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवतीत्यादि" यज्ञ जनता (जनसमुदाय) के लिये होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिये, अतएव प्राण ही सामाजिक बल के (जो यज्ञादि कर्मों के द्वारा बढ़ाया जाता है) आधार हैं। इसी प्रकार क्षत्र शब्द से शारीरिक और ब्रह्म शब्द से आत्मिक बल का ग्रहण होता है,शारीरिक और आत्मिक बल भी प्राण के ही आश्रित हैं। प्राण ही अनुकूल होकर शरीर को पुष्टि पहुंचाते हैं और प्राण ही वश में होकर आत्माको बलिष्ठ बनाते हैं॥ यद्वा अग्न्यादि ५ वीं श्रुति के और ऋक् आदि ६ ठी के कहे सब पदार्थ प्राण में प्रतिष्ठित हैं। यह दोनों का एक अन्वय भी हो सकता है॥ ६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे।
तुभ्यं प्राण ! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति
यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥ ७॥

पदार्थः-(प्रजापतिः) प्राणियों का अध्यक्ष होकर (गर्भे) शरीर में (चरसि) विचरता है (त्वम्, एव) तू ही (प्रति, जायसे) उन में प्रकट होता है (प्राण) हे प्राण ! (यः, जो तू (प्राणैः) प्राणादि पांच भेदों से (प्रतितिष्ठसि) शरीर में रहता है उस (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमाः, प्रजाः) ये सब प्राणी (बलिम्) प्राण को (हरन्ति) आहरण करते हैं अर्थात् देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में प्राण को सम्बोधित करके इन्द्रियादि उस की स्तुति करते हैं:-

हे प्राण ! तू ही प्रजा का जीवनमूल होने से सब प्राणियों के शरीरों में विचरता है और नाना रूप से शरीर के भिन्न २ अङ्गों में प्रकट होता है अर्थात् प्राण-रूप से हृदय में, अपानरूप से गुदा में, समानरूप से नाभि में, उदानरूप से कण्ठ में और व्यानरूप से समस्त शरीर में व्यापक है। तेरी ही रक्षा और स्थिति के लिये सब प्राणी अन्नादि विविध भोग्य पदार्थों की भेंट करते हैं अर्थात् तुझ को शरीर में सुरक्षित रखने के लिये नाना प्रकार के उपायों को काम में लाते हैं, क्योंकि तू ही केवल अत्ता है और सब आद्य हैं। निस्सन्देह संसार में तुझ से प्रिय और कोई वस्तु नहीं है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥८॥

पदार्थः-तू (देवानाम्) सूर्यादि देवों का (वह्नितमः)

अग्निरूप से हव्य का वाहक (असि) है, (पितृणाम्) अग्निष्वात्तादि पितृगणों का (प्रथमा) पहिला अर्थात् मुख्य (स्वधा) कव्य है। (ऋषीणाम्) चक्षुरादि इन्द्रियों का (सत्यम्) असन्दिग्ध (चरितम्) चरित्र है (अङ्गिरसाम्) शरीर के अङ्गों का (अथर्वा) न सुखाने वाला (असि) है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में चार बातें कही गई हैं, उन में से पहिली बात यह है कि प्राण-सूर्यादि देवों को उन का भाग (हव्य) पहुंचाता है, सो यह काम तो अग्नि का है और इस लिये उस को हव्यवाट् कहते हैं. प्राण से इस का क्या सम्बन्ध ? इस का उत्तर यह है कि अग्नि में केवल दाहकशक्ति है, जिस से वह पदार्थों को जलाकर सूक्ष्म और हलका कर देता है, अब उन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाना, यह काम वायु का है, जो कि प्राण का दूसरा नाम है। अच्छा तो फिर वेदादि शास्त्रों में अग्नि को हव्यवाट् क्यों कहा गया है ? इस का उत्तर यह है कि वायु से उत्पन्न होने के कारण अथवा वायु के सहचार से अग्नि में हव्यवाहकता मानी गई है, वास्तव में वहनक्रिया का कर्ता वायु ही है। अस्तु यदि हम स्वतन्त्र रूप से अग्नि को ही हव्यवाहक मान लेवें, तब भी उक्त कथन में कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्राण की अग्निरूपता प्रथम प्रश्न में भले प्रकार सिद्ध कर ही चुके हैं। दूसरी बात यह है कि प्राण ही पितृगणों की पहिली स्वधा है, इस का तात्पर्य यह है

कि श्राद्ध में जब पितृगण भोजन करते हैं तब प्राण ही के द्वारा अन्नप्रवेशन और अन्नपाचनादि क्रिया सिद्ध होती हैं इस लिये प्राण ही पितरों की स्वधा है। तीसरी बात यह है कि इन्द्रियों का सत्यचरित भी प्राण है (ऋषीगतौ) ऋष धातु के ज्ञानार्थक होने से ऋषि नाम इन्द्रियों का है, प्राण के स्वस्थ होने पर ही इन्द्रिय अपने अर्थों को निर्भ्रान्त रीति पर ग्रहण कर सकते हैं, तात्पर्य यह कि इन्द्रियों की सत्यता (सार्थकता) प्राण के ही कारण है। इसी लिये प्राण को उन का सत्यचरित कहा गया है। चौथी बात यह है कि प्राण को शरीर के अङ्गों का न सुखाने वाला कहा गया है, सो प्रत्यक्ष है कि प्राण ही की गति से सब अङ्ग हरे भरे रहते हैं, प्राण के अभाव में शरीर के सब अङ्ग सूख जाते हैं, इसी लिये उन का नाम अङ्गिरस् है, उन अङ्गों का न सुखाने वाला होने से प्राण का नाम अथर्वा है॥

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ९

पदार्थः—(प्राण) हे प्राण! (त्वम्) तू (तेजसा) अपने तेज से (रुद्रः) भयंकर है (परिरक्षिता) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) ऐश्वर्य का देने वाला (असि) है (त्वम्) तू (अन्तरिक्षे) आकाश में (चरसि) विचरता है (त्वम्) तू (ज्योतिषाम्) नक्षत्रों का (पतिः) स्वामी होने से (सूर्यः) आदित्य है॥ ९॥

भावार्थः-प्राण ही इन्द्र रूप से सब जगत् की रक्षा करता है अर्थात् प्राण के ही आश्रय से सब प्राणी सांसारिक और पारमार्थिक सुख का अनुभव करते हैं, प्राण का इन्द्रत्व यही है कि वह ऐश्वर्य का भोग कराने में मुख्य हेतु है। इसीप्रकार अपने तेजसे प्राण ही रुद्र भी है "रोदयति जनानिति रुद्रः" रुलानेवाले को रुद्र कहते हैं,सो प्राण ही शरीर से निकलता हुवा लोगों को रुलाता है, यही उस में रुद्रत्व है। प्राण ही आकाश में अव्याहतगति होकर विचरता है इस लिये वायु है और वही अग्नि रूप होने से सब का प्रकाशक है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सम्पूर्ण नक्षत्रों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही प्राण अपने तेज से शरीर के सब अङ्गों को प्रकाशित कर रहा है ॥ ९ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ! ते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

पदार्थः-(प्राण) हे प्राण ! (यदा) जब (त्वम्) तू (अभिवर्षसि) मेघ हो कर वर्षता है (अथ) तब (ते) तेरी (इमाः, प्रजाः) ये प्रजायें (कामाय) यथेष्ट (अन्नम्) अन्न (भविष्यति, इति) होगा इस आशा से (आनन्दरूपाः) आनन्दरूप होकर (तिष्ठन्ति) ठहरती हैं ॥ १० ॥

भावार्थः-प्राण की मेघ रूपता कह चुके हैं, भौतिक विज्ञान से भी यह बात सिद्ध है कि वर्षा के कारण

वायु और अग्नि ये दो ही पदार्थ हैं। सो इन में से वायु तो प्राण का ही दूसरा नाम है, रहा अग्नि सो वह भी (वायोरग्निः) इस प्रमाण के अनुसार वायु से ही उत्पन्न होता है और इसी लिये प्रथम प्रश्न में अग्नि वा सूर्य को प्राणरूपता कही गई है, तो प्राण ही वर्षा का भी मुख्य कारण ठहरा। जब भोक्ता प्राण मेघरूप होकर पृथिवी पर वर्षता है तब अनेक प्रकार के भोग्य अन्नादि पदार्थ यथेष्ट उत्पन्न होते हैं, जिन से सारी प्रजा (जो प्राण की अध्यक्षता में रहती है अर्थात् भोक्तृशक्तिसम्पन्न है,) तुष्टि और पुष्टि को प्राप्त होती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥

पदार्थः-(प्राण) हे प्राण ! (त्वम्) तू (व्रात्यः) सब से पहिला होने से संस्कार नहीं किया गया है अर्थात् स्वभाव से ही शुद्ध है (एक ऋषिः) एकर्षिनाम अग्नि होकर (अत्ता) सब का भक्षण करने वाला है (विश्वस्य, सत्पतिः) विद्यमान जगत् का पति है (वयम्) हम सब (आद्यस्य) तेरे भक्षणीय अन्नादि के (दातारः) देने वाले हैं (मातरिश्व) हे मातरिश्वन् ! (त्वम्) तू (नः) हमारा (पिता) रक्षक है अथवा त्वम्=तू मातरिश्वनः=वायु का पिता=उत्पादक है ॥ ११ ॥

भावार्थः-जिस का संस्कार न हुवा हो उसे व्रात्यः

कहते हैं, यहां प्राण को व्रात्य इस लिये कहा गया है कि वह सृष्टि में सब से पहिले उत्पन्न हुवा, फिर उस का संस्कार कौन कर सकता था ? इस लिये वह स्वभाव-शुद्ध होने से संस्कार की अपेक्षा नहीं रखता। प्राण का अग्नि और अत्ता होना सिद्ध हो चुका है, विद्यमान सम्पूर्ण जगत् का पति अर्थात् पालक होना भी सिद्ध ही है। इन्द्रिय प्राण से कहते हैं कि जैसे होताओं से हव्य पाया हुवा अग्नि उन की रक्षा का हेतु होता है, वैसे ही हम से अन्नादि भोग्य पदार्थों को प्राप्त हुवा तू हमारा रक्षक होता है। अतएव हम होता (देनेवाले) और तू पिता (रक्षा करने वाला) है। या तू अन्तरिक्ष में श्वास लेने वाले वायु का पिता अर्थात् उत्पादक है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(या) जो (ते) तेरी (तनूः) फैली हुई शक्ति (वाचि) वाणी में (या) जो (श्रोत्रे) कान में (च) और (या) जो (चक्षुषि) आंख में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (या, च) और जो (मनसि) मन में (संतता) फैली हुई है (ताम्) उस को (शिवाम्) मङ्गलकारिणी (कुरु) कर (मा) मत (उत्क्रमीः) निकल ॥ १२ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में इन्द्रिय प्राण से प्रार्थना करते हैं। हे प्राण! तेरी जो शक्ति वाणी में प्रतिष्ठित है जिस से हम बोलते हैं, जो कान में अधिष्ठित है जिस से हम सुनते हैं, जो आंख में उपस्थित है जिस से हम देखते हैं और जो मन में व्याप्त है जिस से हम संकल्प विकल्प करते हैं, उस शक्ति को हमारे लिये मङ्गलकारिणी कर और तू हमारे शरीर से मत निकल अर्थात् हम तेरी उपस्थिति में तेरी शक्ति का प्रयोग ऐसे कामों में करें कि जिस से सर्वदा हमारा कल्याण हो और हम को तेरा वियोग न हो॥ १२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥

पदार्थः–(त्रिदिवे) तीनों लोक में (यत्, प्रतिष्ठितम्) जो कुछ वर्तमान है (इदम् सर्वम्) यह सब (प्राणस्य) प्राण के (वशे) वश में है (माता, इव) माता के समान (पुत्रान्) पुत्रों की (रक्षस्व) रक्षा कर (च) तथा (श्रीः) विज्ञान और ऐश्वर्यरूपिणी शोभा को (प्रज्ञाम्, च) और उस की निमित्त सदसद्विवेकिनी बुद्धि को (नः) हमारे लिये (विधेहि, इति) उत्पादन कर॥१३॥

भावार्थः—इस श्लोक में भी प्राण से प्रार्थना कीगई है। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो कुछ है, वह सब

प्राण के ही आधार में स्थित है। जङ्गम ही नहीं किन्तु स्थावर भी विना वायु के न बढ़ सकते और न जीवित रह सकते हैं, अतएव यह सब चराचर जगत् प्राण के ही आधीन है। प्राण ही माता के समान प्राणियों की रक्षा करता है। जैसे माता आप कष्ट उठाकर भी पुत्रों को सुख पहुंचाती है इसी प्रकार प्राण अपानादि रूप में परिणत होकर भी प्राणियों के लिये हितकर ही होता है। प्राण की ही स्थिरता और वश्यता से मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल तथा धारणावती बुद्धि को प्राप्त करता है। अतएव इस शरीर के धारक और प्रकाशक देवों में प्राण देव ही सब से श्रेष्ठ और प्रधान है। ऐसा जान कर जो इस को तप और योगादि साधनों के द्वारा वश में करते हैं वे ही मनुष्यजीवन के उद्देश्य को पूर्ण करते हुवे मोक्ष के भागी बनते हैं ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः२

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौशल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुतएष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिन् शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (आश्वलायनः, कौशल्यः) अश्वल के पुत्र कौशल्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (एषः, प्राणः) यह प्राण (कुतः) किस कारण से (जायते) उत्पन्न होता है (कथम्) क्योंकर (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है (आत्मानम्, वा) और अपने को (प्रविभज्य) विभाग करके (कथम्) किस प्रकार (प्रातिष्ठते) स्थित होता है (केन) किस हेतु से (उत्क्रमते) निकलता है और (कथम्) क्योंकर (बाह्यम्) बाह्य जगत को (अभिधत्ते) धारण करता है और (कथम्) क्योंकर (अध्यात्मम्, इति) अध्यात्म जगत को ॥ १ ॥

भावार्थः-पहिले प्रश्न के उत्तर में प्राण का अग्नि रूप से अत्ता होना और दूसरे प्रश्न के उत्तर में वायु रूप से सब से प्रथम और श्रेष्ठ होना सिद्ध किया गया, अब तीसरे प्रश्न के उत्तर में उस की उत्पत्ति और विभाग का वर्णन किया जायगा । भार्गव वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर हो चुकने पर आश्वलायन कौशल्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है कि-भगवन् ! उक्त प्राण जिस का अत्तृत्व और मुख्यत्व आप सिद्ध कर चुके हैं, कहां से उत्पन्न होता है अर्थात् उस का निमित्त कारण क्या है ? और उत्पन्न होकर कैसे इस शरीर में आता है और कितने भागों में विभक्त होकर ठहरता है ? किस प्रकार शरीर से निकलता है ? कैसे बाह्य जगत को (जिस में पञ्चज्ञानेन्द्रिय

रूप आधिदैविक और अग्न्यादिपञ्चभूत रूप आधिभौतिक सृष्टि सन्निविष्ट (शामिल) है, धारण करता है और क्यों कर आभ्यन्तर जगत् को (जिस में आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली प्राणादि पांच सूक्ष्मवृत्तियां संयुक्त हैं) धारण करता है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (अतिप्रश्नान्) तू बहुत गम्भीर प्रश्नों को (पृच्छसि) पूछता है, (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म में निष्ठा वाला (असि, इति) है (तस्मात्) इस लिये (ते) तेरे अर्थ (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—कौशल्य का प्रश्न सुन कर पिप्पलाद ऋषि उस से कहते हैं कि—हे कौशल्य ! तू बड़े विषम प्रश्नों को पूछता है । प्रथम तो प्राण का जानना ही बड़ा कठिन है, उस पर उस की उत्पत्ति और विभाग, संक्रमण और उत्क्रमण, शरीर के बाहर और भीतर सञ्चरण; ये ऐसे गूढ़ और सूक्ष्म विषय हैं कि जिन को विद्वान् भी सुगमता से नहीं जान सकते । जोकि इन विषयों का जानना ब्रह्मज्ञान के लिये उपयोगी है, इस लिये इन की जिज्ञासा रखता हुवा तू ब्रह्मनिष्ठ प्रतीत होता है अतएव मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूं ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे ॥ ३ ॥

पदार्थः—(आत्मनः) आत्मा से (एषः, प्राणः) यह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है । (यथा) जैसे (पुरुषे) हाथ पैर आदि आकृति वाले शरीर में (एषा, छाया) यह छाया संबद्ध है, तद्वत् (एतस्मिन्) इस आत्मा में (एतत्) यह प्राण (आततम्) फैला हुवा है (मनोकृतेन) इच्छाजन्यकर्मरूप निमित्त से (अस्मिन् शरीरे) इस शरीर में (आयाति) आता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में आत्मा से प्राण की उत्पत्ति कही गई है, इस से कोई आत्मा को प्राण का उपादान कारण न समझ बैठें । क्योंकि उपादान की कल्पना तो शरीर और छाया के दृष्टान्त से ही कट जाती है । जैसे शरीर छाया का उपादान नहीं किन्तु निमित्त है अर्थात् जैसे शरीररूप निमित्त के होने से छायारूप नैमित्तिक वस्तु होती है, ऐसे ही आत्मा भी प्राण का निमित्त है अर्थात् आत्मरूप निमित्त से प्राणरूप नैमित्तिक पदार्थ उत्पन्न होता है । इस दृष्टान्त से एक यह बात भी ध्वनित होती है कि जैसे छाया और शरीर का साथ है अर्थात् जहां शरीर जाता है वहां उस की छाया भी जाती है, इसी प्रकार प्राण और आत्मा

का भी नाश है अर्थात् जहां आत्मा जाता है वहीं उस का प्राण भी। यही कारण है कि साधारण पुरुष इन में भेद भी नहीं कर सकते किन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्राण को ही आत्मा समझने लगते हैं। अस्तु, श्रुति में स्पष्ट कहागया है कि जैसे साकार वस्तु से छाया उत्पन्न होती है वैसे ही निराकार आत्मा से प्राण की उत्पत्ति होती है, जब कोई साकार वस्तु छाया का उपादान नहीं तब आत्मा प्राण का उपादान क्योंकर हो सकता है ? आत्मसत्ता से उस का प्रकट होना ही प्राण की उत्पत्ति है। अब रहा उस का शरीर में प्रवेश करना सो यह आत्मा के इच्छाजन्य कर्म रूप निमित्त के आधीन है अर्थात् आत्मा जिस २ इच्छा से जैसे २ कर्म करता है प्राण वैसे २ ही शरीरों में उस को लेजाता है। तत्पर्य यह कि कर्मानुसार आत्मा का किसी शरीर में जन्म लेना ही प्राण का उस में प्रवेश करना है। प्राण किस से उत्पन्न होता है और कैसे इस शरीर में आता है, इन दोनों प्रश्नों का उत्तर इस श्रुति में होगया ॥ ३ ॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते ।
एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (सम्राट्, एव) राजा ही (अधिकृतान्) अधिकारियों को (विनियुङ्क्ते) नियुक्त करता है कि (एतान्, ग्रामान्, एतान्, ग्रामान्) इन २ ग्रामों को (अधितिष्ठस्व) अधिकार में ले (एवम्, एव) इस ही प्रकार (एषः, प्राणः) यह प्राण (इतरान्, प्राणान्) चक्षुरादि इन्द्रियों को अथवा अपानादि अपने भेदों को (पृथक्, पृथक्, एव) अलग अलग (संनिधत्ते) नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—इस श्रुति में राजा के दृष्टान्त से प्राण का कर्त्तव्य वतलाया गया है। जैसे राजा अपने देश के प्रवन्धार्थ अधिकारियों को नियुक्त करता है और उन के अधिकार की सीमा भी निर्धारण कर देता है अर्थात् अमुक २ प्रान्त अमुक २ अधिकारों के साथ अमुक २ अधिकारी के शासनाधीन हैं। इसी प्रकार इस शरीर रूप देश का राजा प्राण भी शारीरिक प्रवन्ध के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को एवं अपानादि प्राण भेदों को उन २ का काम और उस की सीमा निर्धारण करके नियुक्त करता है। जैसे वे अधिकारी राजा के नियमानुसार अपने २ कर्त्तव्य का पालन करते हैं, ऐसे ही समस्त प्राणों के भेद, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि प्राण की योजना से अपना २ काम करते हैं ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु

समानः । एषह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मा-
देताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पायूपस्थे) गुदा और उपस्थ में (अपानम्) अपान को नियुक्त करता है (मुखनासिकाभ्याम्) मुख नासिका के सहित (चक्षुःश्रोत्रे) आंख और कान में (प्राणः) प्राण (स्वयम्) आप (प्रातिष्ठते) ठहरता है (तु) और (मध्ये) प्राण और अपान के बीच में अर्थात् नाभि देश में (समानः) समान वायु रहता है (हि) निश्चय (एषः) यह समान वायु (एतत्, हुतम्, अन्नम्) इस खाये पीये अन्नादि के रस को (समम्) परिपाक को (नयति) पहुंचाता है (तस्मात्) उस जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले समान वायु से (एताः सप्तार्चिषः) दो आंख की, दो कान की, दो नाक की और एक मुख की; ये सात ज्वालायें, जिन से प्राण का प्रवेश और निर्गम होता है (भवन्ति) उत्पन्न होतीहैं ॥५॥

भावार्थः-अब यहां से इस प्रश्न का कि अपने को विभक्त करके किस प्रकार प्राण शरीर में रहता है, उत्तर प्रारम्भ किया जाता है । गुदा और उपस्थ इन्द्रिय में अपान वायु रहता है, जिस का काम मलमूत्र का उत्सर्ग कराना है । आंख और कान उपलक्षण हैं शिर के। मुख, नासिका, आंख और कान के द्वारों से प्रवेश करता हुवा शिर में प्राण वायु रहता है, जिस का काम श्वास

प्रश्वास के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना है। प्राण और अपान के बीच अर्थात् नाभि देश में समान वायु रहता है, जिस का काम जाठराग्नि को प्रदीप्त करके भुक्त और पीत अन्नादि के रस को परिपाक करना है, उस ही समान वायु से आंख की दो, कान की दो, नाक की दो और मुंह की एक, ये सात ज्वालायें प्रज्वलित होती हैं अर्थात् जब वह जाठराग्नि के द्वारा रस का परिणाम कराता है तब उस से परिपक्व और पुष्ट होकर चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय अपने२ अर्थों के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं, उन की समर्थता दिखलाने के लिये ही "अर्चिः" शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ५ ॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

पदार्थः-(हृदि) हृदय में (हि)निश्चय (एषः) यह (आत्मा) सब इन्द्रियों का राजा आत्मा रहता है (अत्र) इस हृदय में (एतत्) यह (नाड़ीनाम्) नाड़ियों का (एकशतम्) एक सौ एक १०१ का संघात है (तासाम्) उन १०१ में (एकैकस्याम्) एक एक में (शतम् , शतम्) सौ सौ भेद हैं (द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः, प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि) फिर उन में भी प्रत्येक शाखारूप

नाड़ी के बहत्तर २ हज़ार भेद (भवन्ति) होते हैं (आसु) इन में (व्यानः) व्यान वायु (चरति) विचरता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—हृदय में जो पुण्डरीकाकार स्थान है जिसमें कि शरीर का अधिष्ठाता और इन्द्रियों का राजा-आत्मा रहता है, उस के पास ही नाभिकमल से १०१ नाड़ियें निकल कर शरीर में फैलती हैं। फिर उन में से एक एक की सौ सौ शाखायें फूटती हैं, जिन की संख्या मिलकर १०१०० होती है, अब इन १०१०० में से प्रत्येक की ७२००० शाखायें होती हैं, जिन को गुणा करके ७२७२०००००० हुईं और पिछली मूल १०१ तथा १०१०० नाड़ी मिलाकर सब नाड़ियों की संख्या जो एक शरीर में फैली हुई हैं ७२ करोड़ ७२ लाख १० हज़ार २०१ होती हैं। इन सब नाड़ियों में रुधिर का सञ्चार करता हुवा व्यान वायु विचरता है। शरीर में व्यापक होने से ही इस का नाम व्यान है। यद्यपि सामान्यरूप से शरीर के सब अङ्ग और प्रत्यङ्गों में व्यान रहता है तथापि सन्धि और मर्म स्थानों में इस की विशेष रूप से स्थिति मानी गई है क्योंकि वहीं से रुधिरादि का विभाग होकर शरीर के सर्व अङ्गों में पहुंचता है ॥६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

पदार्थः-(अथ) अब (एकया) उन १०१ नाड़ियों में से एक के द्वारा (ऊर्ध्वः) ऊपर को जाने वाला (उदानः) उदान वायु है जो (पुण्येन) पुण्यकर्म से (पुण्यलोकम्) स्वर्गलोक को (पापेन) पाप कर्म से (पापम्) नरक लोक को और (उभाभ्याम्, एव) पाप पुण्य दोनों से ही (मनुष्यलोकम्) मनुष्यलोक को (नयति) लेजाता है ॥७॥

भावार्थः- अब उन १०१ नाड़ियों में से एक सुषुम्णा नाम नाड़ी है जो पैरों से लेकर मस्तक तक चली गई है, उस में विचरता हुवा उदान वायु विशेष कर कण्ठ देश में रहता है, जो भुक्त और पीत अन्न पानादि को कण्ठ से नीचे उतार कर आमाशय में पहुंचाता है। इसी के द्वारा शरीर की पुष्टि होने से मनुष्य कर्म करने में समर्थ होता है, अतएव यही शुभकर्म के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग में पहुंचाता है अर्थात् देवत्व को प्राप्त कराता है और यही अशुभकर्म के द्वारा नरक में ले जाता है अर्थात् असुरत्व को प्राप्त कराता है और यही शुभा-ऽशुभ मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्यत्व को प्राप्ति कराता है। तात्पर्य यह कि इसी के द्वारा मनुष्य को पाप, पुण्य और मिश्रित कर्मों के करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है, अत-एव यही उन के उत्तम, अधम और मध्यम फल की प्राप्ति का निमित्त भी है। इस का दूसरा अर्थ यह भी है कि उक्त सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ही (जिस में उदान वायु रहता है) मनुष्य का प्राण निकलता है। यदि वह अच्छे

कर्मों के साथ निकले तो अच्छी गति को, बुरे कर्मों के साथ निकले तो बुरी गति को और अच्छे बुरे मिले हुवे कर्मों के साथ निकले तो बीच की गति को प्राप्त कराता है। इस पक्ष में यह उस प्रश्नांश का उत्तर है, जिस में शिष्य ने आचार्य से यह पूछा था कि प्राण किस प्रकार शरीर से निकलता है? ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (आदित्यः, वै) सूर्य ही (बाह्यः, प्राणः, सन्) बाह्य प्राणरूप हुवा (उदयति) प्रकाशित होता है (हि) निश्चय (एषः) यह सूर्यरूप बाह्य प्राण (एनम्) इस (चाक्षुषम्, प्राणम्) चक्षु में रहने वाले प्राण को (अनुगृह्णानः) अनुग्रह करता हुआ स्थित है। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (या) जो (देवता) आकर्षण शक्ति है (सा, एषा) वह यह शक्ति (पुरुषस्य) पुरुष के (अपानम्) अपान वायु को (अवष्टभ्य) खींचकर उस को धारण किये हुवे है (अन्तरा) सूर्य और पृथ्वी के बीच में (यद्) जो (आकाशः) आकाशस्थ वायु है (सः) वह (समानः) समान वायु है (वायुः) सामान्य रूप से जो बाह्य वायु है (सः) वह (व्यानः) व्यान है ॥८॥

भावार्थः—इस श्रुति के द्वारा प्रश्न के अन्तिम भाग का, जिस में यह पूछा गया है कि बाह्य और आध्यात्मिक जगत् को प्राण क्योंकर धारण करता है?, उत्तर दिया गया है। सूर्य (जो कि यहां उपलक्षण है पञ्चभूतों का) बाह्य प्राण है और चक्षु (जो कि यहां उपलक्षण है पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का) आध्यात्मिक प्राण। * जैसे तैजस प्राण चाक्षुष प्राण को रूप ग्रहण करने की शक्ति देता है, ऐसे ही आकाशस्थ प्राण श्रोत्रस्थ प्राण को, वायव्य प्राण स्पर्शगत प्राण को, आप्य प्राण रसनास्थ प्राण को और पार्थिव प्राण घ्राणस्थ प्राण को प्रकाशित करते हुवे उन्हें यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं अर्थात् विना सूर्य के रूप, विना आकाश के शब्द, विना वायु के स्पर्श, विना जल के रस और विना पृथिवी के गन्ध का ग्रहण हो नहीं सकता। इस से सिद्ध है कि आध्यात्मिक प्राण (जो पञ्चज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्त्तक है) आधिभौतिक प्राण के (जो पञ्चमहाभूतों में प्रविष्ट है) आश्रित है, अतएव यह प्राण अपने समष्टिरूप से व्यष्टिरूप को धारण कर रहा है। अब रहा अपान वायु जो प्राण की अधोगामिनी वृत्ति का नाम है, उस को पृथिवी अपनी आकर्षण शक्ति से रोके हुवे है।

* बाह्य और आध्यात्मिक शब्द यहां शरीर की अपेक्षा से है अर्थात् जो प्राण शरीर के बाहर हो वह बाह्य और जो उस के भीतर हो वह आध्यात्मिक है॥

अन्यथा शरीर भारी होने से गिर पड़ना चाहिये या अवकाश होने से ऊपर को उठ जाना चाहिये, क्योंकि हम देखते हैं कि प्रत्येक भारी वस्तु नीचे को गिरती है या अवकाश मिलने पर ऊपर को उठती है, परन्तु यह शरीर स्तम्भवत् न तो नीचे ही को गिरता है और न वृक्षशाखावत् ऊपर ही को उठता है किन्तु जैसे का तैसा (जैसा किसी स्तम्भ को चारों ओर तनाव बांध कर खड़ा कर देते हैं) खड़ा है। इस का कारण पृथिवी की आकर्षण शक्ति है, जो बाह्य प्राण से (जो उस में रहता है) शरीरस्थ अपान को खींचे हुवे है, अतएव बाह्य प्राण ही शरीरस्थ अपान को भी धारण करता है। अब रहा बाह्य समान वायु (जो सूर्यरूप प्राण और पृथिवीरूप अपान के बीच में है) वह शरीरस्थ समान वायु पर (जो आध्यात्मिक प्राण और अपान के बीच में है) अनुग्रह करता हुवा वर्त्तता है अर्थात् समष्टिरूप समान वायु के प्रसाद से ही व्यष्टिरूप समान वायु अनुकूल होता है। इसी प्रकार बाह्य व्यान से (जो समस्त ब्रह्माण्ड में फैल रहा है) शरीरस्थ व्यान (जो नख से लेकर शिखापर्यन्त शरीर में व्यापक है) अनुगृहीत होता हुआ सम्पूर्ण प्राणियों के लिये उपयोगी होता है। निदान संक्षेप से इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि समष्टिगत प्राण ही व्यष्टिगत प्राण को आश्रय और अवकाश देता हुवा अधि-

भूत और अध्यात्म (बाह्य और अन्तःस्थ) इन दोनों प्रकार के जगत् को धारण कर रहा है ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (तेजः, वै) तेज ही (उदानः) उदान वायु है (तस्मात्) इस लिये (उपशान्ततेजाः) शान्त हुवा है स्वाभाविक तेज जिस का अर्थात् मरणासन्न पुरुष (मनसि, संपद्यमानैः) मन में लीन हुए (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (पुनर्भवम्) पुनर्जन्म को " प्राप्त होता है " ॥ ९ ॥

भावार्थः-इसी प्रकार बाह्य उदान भी जो तेज में व्यापक है, अन्तस्थ उदान का (जो सुषुम्णा नाड़ी में रहता है) प्रवर्तक है। इस श्लोक में तेज ही को उदान कहा गया है। इस का कारण यह है कि शरीर में जो एक प्रकार की उष्णता है (जिस के कारण शरीर चलता फिरता और काम करता है) वह उदान वायु के ही आश्रित है। उदान वायु का निरोध होने पर वह उष्णता शान्त हो जाती है और उस के शान्त होने पर जीवात्मा उस शरीर को त्याग कर मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है,इसी को पुनर्भव या पुनर्जन्म कहते हैं। तात्पर्य यह कि जब तक शरीर में उदान वायु अपना काम करता है तब तक उस में उष्णता बनी रहती है जो कि जीवन का कारण

है, उदान की गति का निरोध होते ही शरीर ठगडा पड़जाता है और अन्य प्राण भी उस को छोड़ देते हैं और यही मरण है ॥ ९ ॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः । सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

पदार्थः-(यच्चित्तः) मरण समय में जिस में चित्त वाला होता है अर्थात् जिन २ संस्कारों से युक्त होता है (तेन) उसी संकल्प से अर्थात् उन्हीं संस्कारों से (एषः) यह जीवात्मा (प्राणम्) इन्द्रियों के साथ प्राणवृत्ति को (आयाति) प्राप्त होता है । (प्राणः) प्राणवायु (तेजसा) उदानवायु से (युक्तः) मिला हुवा (आत्मना, सह) भोक्ता आत्मा के साथ (तम्) उस आत्मा को (यथासंकल्पितं, लोकम्) पाप पुण्य की वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को (नयति) पहुंचाता है ॥ १० ॥

भावार्थः-इस श्लोक में जीवात्मा की उत्क्रान्ति का क्रम दिखलाया गया है । मरण समय में अपने अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों की वासना के अनुसार जीवात्मा के जैसे संस्कार होते हैं, उन संस्कारों से युक्त हुवा जीवात्मा मुख्य करके प्राणवृत्ति का आश्रय करता है। अर्थात् उस समय सब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाने पर केवल प्राण के आधार जीवात्मा रहता है क्योंकि जब तक श्वास लेता

है, तब तक लोग कहते हैं कि अभी यह जीवित है। उस समय प्राण उदान से युक्त हुवा अर्थात् उदान को भी अपने साथ लेकर उस जीवात्मा को (जो अपने किये हुवे का फल भोगने वाला है) उस की पाप पुण्यरूप वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को पहुंचाता है। इस से सिद्ध है कि जीवात्मा के कर्म ही उस की शुभाशुभ गति के निमित्त हैं॥ १०॥

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

पदार्थः-(यः, विद्वान्) जो बुद्धिमान् (एवम्) इस प्रकार (प्राणम्) प्राण को (वेद) जानता है (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस प्राणवित् की (प्रजा) इस से उत्पन्न होने वाली सन्तानादि (न, हीयते) क्षीण नहीं होती (अमृतः) जन्ममरण रहित (भवति) हो जाता है (तद्) इस प्रसङ्ग में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है॥ ११॥

भावार्थः-इस श्लोक में आचार्य प्राणविद्या के फलको वर्णन करते हैं। उक्त प्रकार से जैसा कि वर्णन हुवा है, जो विद्वान् प्राण की विद्या को जानते हैं, उन को ऐहिक और आमुष्मिक दोनों फलों की प्राप्ति होती है अर्थात् प्राण की अनुकूलता से उन का शरीर नीरोग और मन स्वस्थ होता है, शरीर के आरोग्य और मन की स्वस्थता से शुद्ध एवं पुष्ट वीर्य उत्पन्न होता है, उस

से उत्तम और बलिष्ठ सन्तान उत्पन्न होकर दीर्घायु होती है। यह तो ऐहिक फल हुआ। अब रहा आमुष्मिक फल, सो प्राण को ही वश में करके मनुष्य समाधि का लाभ कर सकता है। जिस को पाकर जीवात्मा यह मरणशील शरीर रखता हुवा भी उस में ममत्व बुद्धि नहीं रखता और यही अमृतत्व है। अगला श्लोक भी इसी के फल को प्रतिपादन करता है:- ॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते विज्ञायाऽमृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

पदार्थः-(प्राणस्य) प्राण की (उत्पत्तिम्) आत्मा से उत्पत्ति को (आयतिम्) कर्मानुसार शरीराभिगमन को (पञ्चधा) पांच प्रकार से अपना विभाग करके (स्थानम्) अपानादिरूप से पायूपस्थादि स्थानों में स्थिति को (विभुत्वम्) स्वामित्व को वा व्यापकत्व को (अध्यात्मम्) चक्षुरादि इन्द्रियों में प्राणादि रूप से अध्यात्मिक स्थिति को (च) सूर्यादि रूप से अग्न्यादि अधिभूतों में आधिभौतिक स्थिति को (विज्ञाय) जानकर (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त होता है । द्विर्वचन तृतीय प्रश्न की समाप्ति का सूचक है ॥ १२ ॥

भावार्थः-इस श्लोक में भी प्राणविद्या का माहात्म्य वर्णन किया गया है। इस प्रकार जो मनुष्य प्राण की उत्पत्ति को कि यह आत्मरूप निमित्त से उत्पन्न होता

है (आयाति) शरीराग्निगमन को कि स्वकृत कर्मानुसार शरीर में प्रवेश करता है (स्थान) स्थिति को कि अपने पांच विभाग करके पांच स्थानों में निवास करता है अर्थात् प्राणरूप से चक्षु और श्रोत्र में, अपान रूप से गुदा और उपस्थ में, समान रूप से नाभि में, व्यान रूप से समस्त शरीर में और उदान रूप से सुषुम्णा नाड़ी में रहता है, एवं उत्क्रान्ति को कि उदान के द्वारा यह शरीर से निकलता है तथा प्राण के समष्टि और व्यष्टि रूप भेद और इन के परस्पर सम्बन्ध को यथार्थरूप से जानता है, वह प्राणाग्नि में अपने सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दोषों को भस्म करता हुवा मोक्ष का अधिकारी बनता है। द्विर्वचन यहां तीसरे प्रश्न की समाप्ति अथवा अपरा विद्यासम्बन्धी प्रश्न की समाप्ति के लिये समझना चाहिये ॥ १२ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ३

अथ चतुर्थः प्रश्नः

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ ।
भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति
कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्व-

स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

पदार्थः-(अथ) इस के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस आचार्य से (सौर्य्यायणी गार्ग्यः) सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे ब्रह्मन् ! (एतस्मिन्, पुरुषे) इस शिरहस्तपादादि आकृति वाले पुरुष में (कानि) कौन करण (स्वपन्ति) सोते हैं (कानि) कौन (अस्मिन्) इस में (जाग्रति) जागते हैं (एषः,देवः) जो यह देव (स्वप्नान्) स्वप्नों को (पश्यति) देखता है (कतरः) सो कौन है ? (कस्य) किस को (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है (नु) प्रश्नार्थक (कस्मिन्) किस में (सर्वे) सब (सम्प्रतिष्ठिताः, भवन्ति, इति) स्थित होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः-पूर्व तीन प्रश्नों के द्वारा अपराविद्या विषयक कार्यमय जगत् की उत्पत्ति और समष्टि और व्यष्टि रूप से प्राण की स्थिति आदि, आधिभौतिक विषयों का वर्णन किया गया, अब अगले तीन प्रश्नों के द्वारा पराविद्यागम्य, अतीन्द्रिय, सत्य और शान्त आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन किया जाता है । जब मनुष्य कार्यरूप जगत की अनित्यता को जान कर वैराग्यवान् होता है और फिर प्राण की उपासना से चित्त की एकाग्रता और पवित्रता को प्राप्त कर

लेता है, तब वह पराविद्या का अधिकारी होता है, इस लिये अब वक्ष्यमाण तीन प्रश्नों के द्वारा पराविद्यागम्य अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है । अब तृतीय प्रश्न के समाधान होने उपरान्त सौर्य का पुत्र गार्ग्य पिप्पलाद ऋषि से पूछता है। हे भगवन्! इस हस्तपादादि आकृति वाले शरीर में मन आदि अन्तःकरणों में से और चक्षुरादि बाह्यकरणों में से कौन २ से करण सोते हैं अर्थात अपने २ व्यापार से उपराम करते हैं ? तथा कौन २ इस में जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं ? और कौन सा देव स्वप्नों को देखता है? जाग्रदवस्था के बाह्य अनुभव से निवृत्त होकर जाग्रत् के ही समान जो शरीर के भीतर अनुभव होता है, उस को स्वप्न कहते हैं, सो उस स्वप्न को कार्यरूप प्राणादि देखते हैं अथवा करणरूप मन आदि ? और यह सुख किस को होता है अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न अवस्था के निवृत्त होने पर जो अनायास और निर्बाध सुख होता है वह किस को और क्योंकर होता है ? और किस में यह सब कार्य करण एक होकर स्थित होजाते हैं ?

इस श्लोक में शिष्य ने पांच प्रश्न किये हैं। १–इस शरीर में कौन सोते हैं " इस प्रथम प्रश्न द्वारा जागरण का धर्मी पूछा गया है क्योंकि जागने वाला ही सोता है । २–" कौन जागते हैं " इस द्वितीय प्रश्न द्वारा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में शरीर की रक्षा करना किस का धर्म है ? यह पूछा गया है, क्योंकि

जागने वाला ही रक्षा कर सकता है न कि सोने वाला। ३-" कौन स्वप्न को देखता है" इस तृतीय प्रश्न द्वारा स्वप्न का धर्मी पूछा गया है। ४-"किस को यह सुख होता है" इस चतुर्थ प्रश्न द्वारा सुषुप्ति का धर्मी पूछा गया है, क्योंकि सुषुप्ति के बिना संसार में और कोई सुख का लक्षण नहीं है, दुःखी मनुष्य कभी सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और ५-"किस में ये सब स्थित होते हैं" इस पञ्चम प्रश्न द्वारा तीनों अवस्थाओं से रहित जहां सब कार्य और करणों का अवसान होजाता है, उस तुरीयावस्थागम्य आत्मा को पूछागया है। अब इन का क्रम से आचार्य उत्तर देते हैं ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

पदार्थः—(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला । (गार्ग्य) हे गर्गकुलोत्पन्न ! (यथा) जैसे (अस्तं, गच्छतः) अस्त होते हुवे (अर्कस्य) सूर्य की (सर्वाः) सब (मरीचयः) किरणें (एतस्मिन्, तेजोमण्डले) इस तेजःपुञ्ज में (एकीभवन्ति) अविशेषरूप से एक हो जाती हैं । (पुन पुनः उदयतः) फिर फिर उदय होते हुवे उस सूर्य की (ताः) वे किरणें (प्रचरन्ति) फैलती हैं (एवम्) इसी प्रकार (ह, वै) निःसन्देह (तत्, सर्वम्) वह सब इन्द्रियादिजन्य ज्ञान (परे, देवे, मनसि) प्रकृष्टता से प्रकाशमान मन में (एकीभवति) लीन हो जाता है । (तेन) इस कारण से (तर्हि) उस निद्रा की अवस्था में (एषः, पुरुषः) यह पुरुष (न, शृणोति) नहीं सुनता (न, पश्यति) नहीं देखता (न, जिघ्रति) नहीं सूंघता (न, रसयते) नहीं चखता (न, स्पृशते) नहीं छूता (न, अभिवदते) नहीं बोलता (न, आदत्ते) नहीं पकड़ता (न, आनन्दयति) नहीं सुख का अनुभव करता (न, विसृजते) नहीं छोड़ता और (न इयायते) नहीं चलता (स्वपिति, इति) किन्तु तब सोता है ऐसा (आचक्षते) कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में पहिले प्रश्न का उत्तर दिया गया है जिस में यह पूछा गया था कि इस शरीर में कौन२ से करण सोते हैं अर्थात् निद्रा कब और क्यों होती है? इस के उत्तर में आचार्य शिष्यके प्रति कहते हैं कि हे

गार्ग्य ! जैसे सायंकाल को अस्त होते हुवे सूर्य की सब किरणें सिमट कर उस की तेजोराशि में (जो उन किरणों का केन्द्र है) लीन हो जाती हैं, जिस से वह अर्ध भू-भाग जिस में सूर्य अस्त होता है अन्धकारमय हो जाता है और वे ही किरणें फिर प्रातःकाल को (जब सूर्य का उदय होता है) तो उन में से निकल कर सर्वत्र फैल जाती हैं। जिन से प्रकाश होकर दर्शनादि व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। बस इसी प्रकार जब निद्रासमय में इन्द्रिय रूप किरणों का ज्ञान रूप प्रकाश उत्कृष्टता से प्रकाशमान मन रूप सूर्य में (जो उन का केन्द्र है) लीन हो जाता है (इन्द्रियों का नेता होने से मन को परम देव कहा गया है) तब निद्रारूप रात्रि प्रवृत्त होती है जिस में यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न छोड़ता है, न सुख का अनुभव करता है और न चलता फिरता है किन्तु " सोता है " ऐसा कहा जाता है। पुनः निद्रा के उपरत होने पर जब जागरण का समय आता है तब जैसे सूर्यमण्डल में से किरणें निकल कर संसार को प्रकाशित कर देती हैं, ऐसे ही मन में से एकीभूत इन्द्रियों की शक्ति निकल कर उन सब को पृथक् २ प्रकाशित कर देती है, जिस से श्रवण दर्शनादि सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत्त होने लगते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे किरणों का सूर्य में लीन हो जाना रात्रि कहलाती

है, इसी प्रकार इन्द्रियों का अपनी शक्तिरूप से मन में लीन होजाना ही निद्रा या स्वप्नावस्था है ॥ २ ॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

पदार्थः- (एतस्मिन्, पुरे) इस नवद्वार वाले पुर अर्थात् शरीर में (प्राणाग्नयः, एव) प्राणादि रूप पांच अग्नि ही (जाग्रति) जागते हैं । (एषः, अपानः) यह अपान वायु (ह, वै) निश्चय (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है। (व्यानः) व्यान (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि है । (यत्) जो (गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्नि से (प्रणीयते) बनाया जाता है (प्रणयनात्) गार्हपत्य अग्नि से निष्पन्न होने से (प्राणः) प्राण वायु (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में " कौन जागते हैं " इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस नवद्वार वाले शरीर में निद्रा के समय जब श्रोत्रादि इन्द्रिय सोते हैं अर्थात् मन में लीन हुवे अपने २ व्यापार से उपरत होते हैं तब पञ्च प्राण रूप अग्नि ही जागते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं । जागरण-

शील होने से ही प्राणों को अग्नि कहागया है, क्योंकि निद्रा एक प्रकार का अन्धकार है, जैसे अन्धकार अपना प्रभाव और सब पदार्थों पर डाल सकता है अर्थात् उन को तिरोहित कर सकता है, परन्तु अग्नि को नहीं छिपा सकता। ऐसे ही निद्रा अन्य सब करणों को सुला सकती है परन्तु प्राणों पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती। वे निद्रा रूप अन्धकार के होने पर भी अग्निवत् सदा जागते ही रहते हैं। अब प्राणों की अग्नि से समानाधिकरणता दिखलाते हैं। अपान वायु ही गार्हपत्य अग्नि है, जैसे गार्हपत्य अग्नि से नैमित्तिक यज्ञों में आहवनीय अग्नि संवृत्त होता है, इसी प्रकार सुषुप्ति में अपान वायु से प्राण वायु का संवरण होता है अर्थात् सोते हुवे पुरुष का अपान वायु ही मुख नासिका के छिद्रों से प्राण रूप होकर निकलता है अतएव आहवनीय अग्नि प्राण वायु है। क्योंकि वह अपान रूप गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होता है। अब रहा दक्षिणाग्नि, सो उस की समानाधिकरणता व्यान के साथ है। व्यान यद्यपि समस्त शरीर में व्यापक है तथापि हृदय के दक्षिणदेशस्थ छिद्रों के द्वारा उस का निर्गम होने से तथा आहार के परिपाक में उस का उपयोग होने से उस को दक्षिणाग्नि वा अन्वाहार्यपचन कहागया है॥३॥

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान

इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरह-र्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यत्) जो (एतौ) इन (उच्छ्वासनिःश्वासौ) श्वास और प्रश्वासरूप (आहुती) दो आहुतियों को (समं, नयति, इति) समता को प्राप्त कराता है इस से (सः) वह (समानः) समान वायु है (ह) प्रसिद्ध (मनः, वाव) मन ही (यजमानः) यज्ञ का कर्त्ता है (इष्टफलम्, एव) यज्ञ का फल ही (उदानः) उदान वायु है । (सः) वह उदान (एनं, यजमानम्) इस मन रूप यजमान को (अहरहः) प्रतिदिन (ब्रह्म) परम सुख को (गमयति) पहुंचाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोक में प्राण, अपान और व्यान की समानाधिकरणता क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के साथ दिखला चुके हैं, अब इस श्लोक में समान और उदान की समानाधिकरणता कहते हैं । श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियों को समान रूप से जो प्राण में हवन करता है, वह होतृस्थानीय समान वायु है। जैसे होता आहवनीय अग्नि में अग्नि और सोम के लिये दो आज्यभागाहुतियों को समान रूप से पहुंचाता है इसी प्रकार समान वायु श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियोंको समभाग से प्राणाग्नि में हवन करता है, अतएव वह होतृस्थानीय है। संकल्प विकल्पात्मक मन ही यजमान अर्थात् इस आध्यात्मिक यज्ञ का कर्त्ता है और उस यज्ञ का फल ही उदान

वायु है जो कि मन रूप यजमान को प्रतिदिन सुषुप्ति में लेजाकर परम सुख का अनुभव कराता है। तात्पर्य यह कि होता रूप समान वायु, अपनी श्वास और प्रश्वास रूप दो आहुतियों के द्वारा मन रूप यजमान को उदान रूप जो इस आध्यात्मिक यज्ञ का फल है, उसे प्राप्त कराता है। जोकि अग्नि तीन ही प्रकार का है और प्राण के पांच भेद हैं, इस लिये शेष समान और उदान की समानाधिकरणता होता और यज्ञफल के साथ की गई है। होता के द्वारा यज्ञफल की प्राप्ति यजमान को होती है, इस लिये मन को यजमान कहा गया है। जो कि ये सब पूर्वोक्त तीनों अग्नियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, इस लिये एक प्रकार से अग्नि के ही साथ इन की समानाधिकरणता समझनी चाहिये ॥ ४ ॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।
यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थ-
मनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं
पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च
श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च
सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

पदार्थः-(अत्र) श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरत होने पर एवं शरीररक्षार्थ प्राणादि वायुओं के जागने पर अर्थात्

जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच में (एषः, देवः) यह मन रूप देव (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (महिमानम्) अपनी विभूति को अर्थात् विषय रूप अनेक वस्तुओं को (अनुभवति) अनुभव करता है। (यत्) जिस को (दृष्टम्) पहिले देखा है उस को (दृष्टम्, अनुपश्यति) देखे हुवे के समान पुनः देखता है (श्रुतं, अर्थम्) सुनी हुई बात को (श्रुतम्, एव, अनुशृणोति) सुने हुवे के समान फिर सुनता है (देशदिगन्तरैः, च, प्रति, अनुभूतम्) देशान्तर और दिगन्तर में अनुभव किये हुवे को (पुनः, पुनः, प्रति, अनुभवति) वार २ अनुभव करता है (च) और (दृष्टम्) देखे हुवे को (च) और (अदृष्टम्) नहीं देखे हुवे को (च) और (श्रुतम्) सुने हुवे को (च) और (अश्रुतम्) नहीं सुने हुवे को (च) और (अनुभूतम्) अनुभव किये हुवे को (च) और (अननुभूतम्) अनुभव न किये गये को (च) और (सत्) विद्यमान को (च) और (असत्) अविद्यमान को (सर्वम्) उक्त अनुक्त सब को (पश्यति) देखता है (सर्वः) सब करणों को अपने में लीन करके मन (पश्यति) देखता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में " कौन सा देव स्वप्नों को देखता है" इस तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जब श्रोत्रादि सब इन्द्रिय अपने २ काम से उपरत हो जाते हैं अर्थात् उन की वृत्ति मन में लीन हो जाती है, केवल प्राणादि पांच वायु इस शरीर में जागते हैं अर्थात् अपना अपना काम करते हैं, उस समय जाग्रत् और सुषुप्ति के

बीच में यह मनरूप देव पूर्व दृष्ट या श्रुत अर्थों को तथा देशान्तर और कालान्तर में अनुभूत अर्थों को उन के वासनाजन्य संस्कारों से उद्बोधित हुआ अपने में उन को देखता, सुनता और अनुभव करता है, इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। यही नहीं कि केवल इसी जन्म या इसी शरीर में देखे, सुने और अनुभव किये अर्थों को देखता, सुनता और अनुभव करता है किन्तु इस जन्म या शरीर में कभी न देखे, न सुने और न अनुभव किये अर्थों को भी पूर्वजन्म और पूर्वोपात्त शरीरों के वासना-जन्य संस्कारों के प्रभाव से देखता, सुनता और अनुभव करता है। कभी सत्=जो वस्तु जैसी है उस को वैसी ही देखता है, जैसे मनुष्यों का दौड़ना और पक्षियों का उड़ना इत्यादि। कभी असत्=जो जैसी नहीं है, उसको भी वैसी देखता है, जैसे मनुष्यों का उड़ना और पशुओं का बोलना इत्यादि अनेक व्यवहारों को स्वप्न में मनरूप देव सम्पूर्ण बाह्य और अन्तःकरणों का अपने में समा-वेश करके देखता है॥

यहां पर यह शङ्का होती है कि समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान की उपलब्धि में मन तो आत्मा का एक करण-मात्र है, उस ज्ञान का स्वतन्त्रता से अनुभव करनेवाला तो केवल आत्मा है। फिर यहां श्रुति में स्वप्नज्ञान का अनुभव करने वाला मन को क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्येक दशा में ज्ञान का अधि-

कारण केवल आत्मा ही हो सकता है तथापि मन के संयोग के विना केवल आत्मा में जाग्रदादि अवस्थायें बन नहीं सकतीं । आत्मा अपने स्वरूप से न कभी सोता है और न जागता है, वह तो सदा एकरस है, मन की ही उपाधि से उस में सोना और जागना आदि व्यवहार होते हैं, अतः मन को ही इन का निमित्त मान कर (इस न्याय से कि "येन विना यदनुत्पन्नं तत्तेनाक्षिप्यते" जिस के होने से जो होता है वह उस का ही माना जाता है) स्वप्नज्ञान का अनुभविता मन को कहा गया है ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति ।
अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैत-
स्मिन् शरीरएतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

पदार्थः-(सः) वह मन (यदा) जब (तेजसा) वेग से (अभिभूतः, भवति) हीन हो जाता है (अत्र) इस दशा में (एषः, देवः) यह मन (स्वप्नान्) स्वप्नों को (न, पश्यति) नहीं देखता (अथ) इस के अनन्तर (तदा) तब (एतस्मिन्, शरीरे) इस शरीर में (एतत्, सुखम्) यह सुख (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-इस श्रुति में आचार्य "किस को यह सुख होता है" इस चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं । जब वह मन तेज से अभिभूत (वेगरहित=एकाग्र) होकर निश्चेष्ट हो जाता है, तब सुषुप्ति या समाधि की अवस्था होती है।

इन में इतना भेद है कि जब सांसारिक सुख से तृप्त होकर मन शान्त होता है, उस को सुषुप्ति और जब पारमार्थिक अगाध सुख का अनुभव करके निश्चल और निश्चेष्ट हो जाता है, उस को समाधि वा तुरीयावस्था कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में मन की गति का निरोध होने से न कोई स्वप्न दीखता है और न किसी दुःख का अनुभव होता है। यद्यपि सुषुप्ति में दुःख का अभाव क्षणिक है, तथापि चाहे थोड़ी देर के लिये ही क्यों न हो, संसार में दुःख से छुटकारा केवल सुषुप्ति में ही जाकर मिलता है। बस इन्हीं दोनों अवस्थाओं में जब मन अनात्मवस्तुओं के संसर्ग से रहित होकर निश्चेष्ट हो जाता है (और यही उस का वेग से अभिभूत होना है) तब उस को इस शरीर में ही उस निराबाध सुख की (जो पूछा गया है) उपलब्धि होती है॥ ६॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥७॥

पदार्थः—(सः, यथा) सो जैसे (सोम्य) हे प्रियदर्शन! (वयांसि) पक्षिगण (वासोवृक्षम्) निवासार्थ वृक्ष में (संप्रतिष्ठन्ते) ठहरते हैं (ह, वै) निश्चय (एवम्) इसी प्रकार (तत्, सर्वम्) वह वक्ष्यमाण सब कुछ (परे, आत्मनि) इन से सूक्ष्म आत्मा में (संप्रतिष्ठते) स्थिति पकड़ता है॥ ७॥

भावार्थः-अब इस श्रुति में पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जिस में पूछा गया था कि "किस वस्तु में यह सब पदार्थ स्थित होते हैं" पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सोम्य ! जिस प्रकार रात्रि में पक्षिगण निवास के लिये वृक्ष का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार प्रलयरूप महारात्रि में यह सब कुछ जिस का विवरण अगली श्रुति में किया गया है, उस अक्षर परमात्मा में लीन हो जाता है ७

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८॥

पदार्थः-(पृथिवी, च, पृथिवीमात्रा, च) पृथिवी और उस की मात्रा गन्ध (आपः, च, आपोमात्रा, च) जल और उस की मात्रा रस (तेजः, च, तेजोमात्रा, च) तेज और उस की मात्रा रूप (वायुः , च, वायुमात्रा , च) वायु और उस की मात्रा स्पर्श (आकाशः, च, आकाशमात्रा, च) आकाश और उस की मात्रा शब्द [यहां तक स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् कार्य कारण रूप से पञ्चमहाभूत हुवे] (चक्षुः, च , द्रष्टव्यं , च) आंख और देखने योग्य वस्तु (श्रोत्रं, च, श्रोतव्यं, च) कान और सुनने योग्य वस्तु (घ्राणं, च, घ्रातव्यं, च) नाक और सूंघने योग्य वस्तु (रसः, च, रसयितव्यं, च) रसना और रस लेने योग्य वस्तु (त्वक्, च, स्पर्शयितव्यं, च) त्वचा और छूने योग्य वस्तु (वाक्, च, वक्तव्यं, च) वाणी और कहने योग्य वस्तु (हस्तौ, च, आदातव्यं, च) दो हाथ और उन से ग्रहण करने योग्य वस्तु (उपस्थः, च, आनन्दयितव्यं , च) उपस्थ इन्द्रिय और उस के द्वारा प्राप्त होने वाला रतिजन्य सुख (पायुः, च, विसर्जयितव्यं , च) गुदेन्द्रिय और उस का काम विसर्जन (पादौ, च, गन्तव्यं , च) दो पैर और उन का कार्य गमन [यहां तक ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय जिन को बाह्यकरण कहते हैं, पूर्ण हुवे] (मनः, च, मन्तव्यं, च) मन और मनन करने योग्य वस्तु (बुद्धिः, च, बोद्धव्यं, च) बुद्धि और जानने योग्य वस्तु (अहंकारः, च, अहंकर्त्तव्यं, च) अहंकार और अहं करने योग्य वस्तु

(चित्तं, च, चेतयितव्यं, च) चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु [यहां तक चार अन्तःकरण पूरे हुवे] (तेजः, च, विद्योतयितव्यं, च) तेज और प्रकाश करने योग्य वस्तु (प्राणः, च, विधारयितव्यं, च) प्राण और धारण करने योग्य वस्तु ॥ ८ ॥

भावार्थः-वह सब कुछ क्या है ? बस इसी का विवरण इस श्रुति में किया गया है । यों तो संसार में अनेक और असंख्य पदार्थ हैं जिन का कोई सैकड़ों वर्ष पर्यन्त नामनिर्देश मात्र ही करता रहे तो भी पार नहीं पासकता । परन्तु महर्षि पिप्पलाद निम्न लिखित चार श्रेणियों में उन सब का समावेश करके सागर को गागर में भरे देते हैं । पहिली श्रेणी में पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश; ये पञ्चमहाभूत और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; ये पांच उन की सूक्ष्मतन्मात्रायें निर्दिष्ट हैं, सारा प्राकृत जगत् समष्टि रूप से इन में आजाता है । दूसरी श्रेणी में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच उन के विषय एवं पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ही उन के कर्म सन्निविष्ट हैं । सम्पूर्ण जगत् के होते हुवे भी यदि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय न होते तो क्या ज्ञान और कर्म के विना एक दिन भी यह सृष्टि का प्रवाह चल सकता था ? कदापि नहीं । तीसरी कक्षा में मन आदि चार अन्तःकरण हैं, आंख के होते हुवे भी यदि मन न होता तो क्या हम उस से कुछ देख सकते थे ?

कान के होते हुवे भी यदि बुद्धि न होती तो क्या हम उस से कुछ सुन सकते थे ? वाणी के होते हुए भी यदि चित्त न होता तो क्या हम उस से कुछ लाभ उठा सकते थे ? कुछ नहीं, कदापि नहीं ॥

चौथी कक्षा में वही तेज रूप प्राण रक्खे गये हैं कि जो इस शरीर के प्रकाशक और विधारक हैं । मन आदि अन्तःकरणों के होते हुवे भी यदि प्राण न होते तो क्या हम उन से मनन, चिन्तन आदि कर सकते थे ? कदापि नहीं। बस यह चारों प्रकार का जगत् जो उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, सुषुप्ति वा समाधि में (जैसे रात्रि में पक्षिगण वृक्ष का आश्रय लेते हैं) आत्मा में जाकर (जो इस का एक मात्र आधार है) स्थिति पकड़ता है ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

पदार्थः-(हि) निश्चय (एषः) यह (द्रष्टा) देखने वाला (स्प्रष्टा) स्पर्श करने वाला (श्रोता) सुनने वाला (घ्राता) सूंघने वाला (रसयिता) चखने वाला (मन्ता) मनन करने वाला (बोद्धा) जानने वाला (कर्त्ता) अपनी स्वतन्त्रता से शुभाऽशुभ कर्मों को करने वाला (विज्ञानात्मा) ज्ञान का अधिकरण अर्थात् ज्ञानस्वरूप (पुरुषः) कार्यकरणसंघात का पूरक होने से जीवात्मा

है। (सः) वह भी (परे, अक्षरे, आत्मनि) अपने से पर अक्षर परमात्मा में (संप्रतिष्ठते) ठहरता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—पहिली श्रुति में जो चार कोटि वर्णन की गई थीं, वे चारों प्राकृत जगत् से ही सम्बन्ध रखती हैं जीवात्मा इन सब के अतिरिक्त है, जिस को आचार्य इस श्रुति के द्वारा पांचवीं कोटि में वर्णन करते हैं। पञ्चमहाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण इन सब के होते हुवे कल्पना करो कि यदि जीवात्मा न होता तो क्या ये सब के सब व्यर्थ न हो जाते? अवश्यमेव व्यर्थ हो जाते। बस जो आंखों से देखता है, त्वक् से स्पर्श करता है, श्रोत्र से सुनता है, घ्राण से सूंघता है, रसना से चखता है, मन से मनन करता है, बुद्धि से जानता है और अपनी स्वतन्त्रता से समस्त शुभाऽशुभ कर्मों को करता है, वह ज्ञान का अधिकरण (जिस में तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञान रहता है) जीवात्मा है। वह भी उसी अक्षर परब्रह्म में, जिस में यह सारा प्राकृत जगत् कारण रूप से लीन होता है, अपने वास्तविक रूप से अवस्थित होता है ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियदर्शन! (यः, तु) और जो (ह, वै) निस्सन्देह (यः) जो (तद्) उस (अच्छायम्) तमस् अर्थात् अज्ञान से वर्जित (अशरीरम्) तीनों प्रकार के शरीर से रहित एवं तदनुयायिनी तीनों अवस्थाओं से वर्जित तथा तन्निमित्त तीनों गुणों से शून्य (अलोहितम्) रक्तादि सब गुणों से रहित (शुभ्रम्) निर्मल (अक्षरम्) अविनाशि ब्रह्म को (वेदयते) जानता है (सः) वह (परम्, एव, अक्षरम्)परम अविनाशी ब्रह्म को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है (सः) वह (सर्वज्ञः) सब जानने वाला (सर्वः) सर्वत्र (भवति) होता है (तद्) इसी विषय में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है ॥ १० ॥

भावार्थः—अब इस श्रुति में आचार्य ब्रह्मज्ञान का फल प्रतिपादन करते हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों से अतीत; जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से वर्जित; कारण, सूक्ष्म,स्थूल इन तीनों प्रकार के शरीरों से रहित; रक्त पीतादि वर्ण और गुणों से शून्य अतएव अतीन्द्रिय शुद्ध अविनाशी ब्रह्म को [जिस में यह सारा ब्रह्माण्ड स्थूल पञ्चमहाभूतों से लेकर सूक्ष्म जीवात्मा पर्यन्त प्रलय में लीन हो जाता है] जो पुरुष जानता है उस को फिर क्या जानना शेष रह जाता है? "तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" उस ही के जानने पर यह सब कुछ जाना जाता है अतएव वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ (अप्रतिहतज्ञान) होकर जीव-

न्मुक्त हुवा सर्वत्र ब्रह्मानन्द में रमण करता है "सर्वो भवति" यहां "मञ्चाः क्रोशन्ति" के समान लाक्षणिक अर्थ की योग्यता है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैःप्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥११॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियदर्शन ! (प्राणाः) पांचों प्राण (भूतानि) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत (सर्वैः, देवैः, सह) चक्षुरादि इन्द्रियों तथा सूक्ष्म तन्मात्राओंके साथ (यत्र) जिस विराट् पुरुष में (संप्रतिष्ठन्ति) ठहरते हैं (तद्, अक्षरम्) उस अक्षर को (यः, विज्ञानात्मा) जो जीवात्मा (वेदयते) जानता है (सः) वह (सर्वज्ञः) त्रिकालज्ञ होकर (सर्वम्, एव, आविवेश, इति) सब को ही प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ को ही यह मन्त्र भी पुष्ट करता है । जिस भूमा पुरुष में प्राण इन्द्रियों और पृथिव्यादि भूत अपनी सूक्ष्म तन्मात्राओं के सहित संप्रतिष्ठित होजाते हैं अर्थात् जो कार्य कारण दोनों दशाओं में सारे विश्व का अधिष्ठान है, उस अविनाशी ब्रह्म को जो पुरुष यथार्थ रूप से जान लेता है उसके लिये कौन सी वस्तु अज्ञात और कौन सा देश अप्राप्य है ? कोई भी नहीं ॥ ११ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थःप्रश्नः ॥४॥

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन् ! मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस पिप्पलाद ऋषि से (शैब्यः, सत्यकामः) शिबि के पुत्र सत्यकाम ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे ब्रह्मन् ! (ह, वै) प्रसिद्ध (मनुष्येषु) मनुष्यों में (सः, यः) जो कोई (प्रायणान्तम्) मरणपर्यन्त (तद्) उस ब्रह्म के वाचक (ओंकारम्) प्रणव का (अभिध्यायीत) समाहितचित्त होकर ध्यान करे (वाव) निश्चय (सः) वह ध्याता (तेन) उस प्रणव के ध्यान से (कतमं, लोकम्) कौन से लोक को (जयति, इति) जीतता है ॥ १ ॥

भावार्थः—चतुर्थ प्रश्न द्वारा उत्तमाधिकारियों को द्रव्यशुद्धि और साधनपूर्त्ति पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कह कर अब मन्दवैराग्य वाले मध्यमाधिकारियों को प्रणव की उपासनाके द्वारा क्रमशः ब्रह्मप्राप्ति करने के लिये इस पञ्चम प्रश्न का प्रारम्भ करते हैं। सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न का समाधान होने उपरान्त शैब्य सत्यकामने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि भगवन् ! मनुष्यों में जो कोई शुद्ध संस्कार

वान् मरणपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन समाहितचित्त होकर वाच्य और वाचक की अभिन्नता से ब्रह्म के वाचक प्रणव का ध्यान करे तो इस ध्यान रूप कर्म के करने से वह ध्यान का कर्ता कौन से लोक को जीतता है अर्थात् किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्मा-द्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥२॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह आचार्य (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सत्यकाम) हे सत्यकाम ! (यत्) जो (परं, च, अपरं, च, ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है (एतद्, वै) यही (ओंकारः) ओंकार है (तस्मात्) इस लिये (विद्वान्) सदसद्वि-वेकी पुरुष (एतेन, एव, आयतनेन) इस ही अवलम्ब से (एकतरम्) पर और अपर इन दोनों पदों में से स्वाभीष्ट एक को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥ २ ॥

भावार्थः-उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुवे पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे सत्यकाम ! पर और अपर रूप से दो प्रकार का जो ब्रह्म है अर्थात् वाचक (शब्द) रूप से अपर ब्रह्म और वाच्य (अर्थ) रूप से परब्रह्म, सो यह दोनों प्रकार का ब्रह्म ओंकार ही है । वाच्य वा-चक की अभिन्नता मानकर यह कहागया है, लोक में भी ऐसा व्यवहार देखने में आता है । यथा " देवदत्त

वहां आयगा, यज्ञदत्त यह काम करेगा " इत्यादि। देवदत्त और यज्ञदत्त संज्ञा हैं, तथा जाना और काम करना ये संज्ञी के धर्म हैं, नकि संज्ञा के। परन्तु संज्ञा के साथ संज्ञी का अभेदान्वय होने से वे केवल संज्ञा से निर्देश किये जाते हैं। इसी प्रकार संज्ञी ब्रह्म का संज्ञा प्रणव के साथ अभेद होने से तद्द्वारा उस का निर्देश किया गया है। अतएव ध्यानशील विद्वान् इस ही ओंकार का अवलम्बन करने से अभ्युदय और मोक्ष इन दोनों फलों में से जिस को चाहता है, ले सक्ता है। कठोपनिषद् में भी निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा इसी ओंकार का माहात्म्य वर्णन किया गया है। "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" यह ही अक्षर (ओ३म्) ब्रह्म है, यह ही अक्षर (पर) सब से उत्कृष्ट है, इस ही अक्षर (ओ३म्) को जानकर जो, जो चाहता है वह उस का है। यह आलम्बन श्रेष्ठ है, यह अवलम्बन सर्वोत्तम है, इस ही आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महत्त्व को पाता है॥ २॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥३॥

पदार्थः-(यः) वह ध्यान करने वाला (यदि) जो (एक-मात्रम्) ओंकार की एक मात्रा [अकारमात्र] को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह एक मात्रा का ध्यान करने वाला (तेन, एव) उस ही एक मात्रा के ध्यान से (संवेदितः) सम्यग् बोधित हुवा (तूर्णम्, एव) शीघ्र ही (जगत्याम्) पृथिवी में (अभिसंपद्यते) सब ओर से सम्पन्न होता है। (तम्) उस को (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (मनुष्यलोकम्) मनुष्यलोकसम्बन्धी सम्पूर्ण सुखों को (उपनयन्ते) समीपता से प्राप्त कराते हैं (सः) वह ऋग्वेद के मन्त्रों से मनुष्यलोक के समस्त सुखों को प्राप्त हुवा मनुष्य (तत्र) उस मनुष्यलोक में (तपसा) धर्म के आचरण से (ब्रह्मचर्येण) इन्द्रियनिग्रह से और (श्रद्धया) आस्तिक्यबुद्धि से (संपन्नः) युक्त हुवा (महिमानम्) ब्रह्म के महत्त्व को (अनुभवति) अनुभव करता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-समष्टिरूप से सम्पूर्ण प्रणव के ध्यान का फल कहकर अब व्यष्टिरूप से उस की एक २ मात्रा के ध्यान का फल कहते हैं। ओंकार में तीन मात्रा (अक्षर) हैं-अ, उ, म्। इन का विस्तारपूर्वक व्याख्यान माण्डूक्योपनिषद् में किया गया है, यहां पर केवल इन की उपासना का फल वर्णन किया गया है। पहिली मात्रा अकार है। जो मनुष्य यम नियमादि साधनों से संपन्न होकर एवं प्रणव के वाच्य पर श्रद्धा और विश्वास को

धारण करके पहिली मात्रा का ध्यान करता है [आत्म प्रत्यय के दृढ़ होने से तद्भिन्न प्रत्ययों का विलीन होना ही यहां ध्यान शब्द का अभिप्राय है] वह तन्मय होकर एकमात्राविशिष्ट ओंकार के ध्यान करने से ही विच्छिन्न तमआवरण होकर विज्ञान से प्रकाशित हुवा पृथिवी में सुशोभित होता है। उस को ऋग्वेद के मन्त्र मनुष्यलोक और उस के सम्पूर्ण अभ्युदय को प्राप्त कराते हैं। तब वह इस मनुष्यलोक में श्रेष्ठगति को पाकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से संपन्न हुवा ब्रह्म के महत्त्व का अनुभव करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

पदार्थः–(अथ) और (यदि) जो (द्विमात्रेण) अकार, उकार दो मात्राओं से (मनसि) मन में (संपद्यते) प्राप्त होता है अर्थात् ध्यान करता है (सः) वह (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ (सोमलोकम्) चन्द्रलोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद के द्वारा (उन्नीयते) ले जाया जाता है (सः) वह (सोमलोके) चन्द्रलोक में (विभूतिम्) ऐश्वर्य को (अनुभूय) अनुभव करके (पुनः) फिर (आवर्त्तते) इस पृथिवी पर आता है ॥ ४ ॥

भावार्थः–इसी प्रकार जो अकार उकार दो मात्राओं से मननपूर्वक ब्रह्म का ध्यान करता है वह यजुर्वेद के द्वारा

चन्द्रलोक को पहुंचाया जाता है। वहां अनेक प्रकार के दिव्य भोगों को भोग कर फिर वह इस मर्त्यलोक में जन्म लेता है। यद्यपि मनुष्यलोक की अपेक्षा चन्द्रलोक विशेष माना गया है, तथापि ब्रह्मलोक की अपेक्षा [जो वक्ष्यमाण त्रिमात्र ओंकार की उपासना से प्राप्त होता है] कुछ भी नहीं ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

पदार्थः–(पुनः) फिर (यः) जो (त्रिमात्रेण) अ, उ, म् तीन मात्रा वाले (ओम् इति, एतेन, एव, अक्षरेण) "ओ३म्" इस ही अक्षर से (एतं, परं, पुरुषम्) इस परब्रह्म को (अभिध्यायीत) ध्यान करे (सः) वह (तेजसि, सूर्ये) तेजवाले सूर्यलोक में (संपन्नः) प्राप्त होता है (यथा) जैसे (पादोदरः) उदर ही पैर हैं, जिस के ऐसा सर्प (त्वचा) कैंचुली से (विनिर्मुच्यते) पृथक् हो जाता है (ह, वै) निस्सन्देह (एवम्) इस

ही प्रकार (सः) वह त्रिमात्र ओ३म् का ध्याता (पाप्मना) पापरूप मल से (विनिर्मुक्तः) छूट जाता है (सः) वह (सामभिः) सामवेद के मन्त्रों से (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक को (उन्नीयते) सब से ऊपर ले जाया जाता है (सः) वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुवा (एतस्मात्, परात्, जीवघनात्) इस समस्त जीवोंके सूक्ष्म संघात से (परम्) सूक्ष्म (पुरिशयम्) समस्त विश्व में व्यापक (पुरुषम्) पूर्ण पुरुष को (ईक्षते) देखता है (तद्) इस विषय में (एतौ, श्लोकौ) वक्ष्यमाण ये दो श्लोक (भवतः) प्रस्तुत हैं ॥५॥

भावार्थः—अब जो शम दमादि साधनों से युक्त हुवा समग्र ओंकार से अर्थात् अ, उ, म् इन तीनों मात्राओं से विधिपूर्वक उस परम पुरुष का ध्यान करता है, प्रथम वह तेज से सम्पन्न होकर सूर्य लोक में जाता है, पुनः केंचुली छोड़े हुवे सर्प के समान पाप रूप मल के आवरण से मुक्त हुवा सामवेद के द्वारा सर्वोपरि ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है। जिस ब्रह्मलोक को पाकर फिर वह इस जीवसंघातरूप कार्यकारणात्मक जगत् में सिवाय उस परम पुरुष के कि जो चराचर विश्व में ओत प्रोत हो रहा है और किसी को नहीं देखता अर्थात् केवल ब्रह्ममय और ब्रह्मपर होजाता है, इसी की पुष्टि अगले दो श्लोक भी करते हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु

बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

पदार्थः–(अन्योन्यसक्ताः) परस्पर सम्बद्ध (अनविप्रयुक्ताः) ज्ञेय में प्रयोग न करके केवल शब्द में ही प्रयोग की गईं (तिस्रः, मात्राः) अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रायें (मृत्युमत्यः) मरणधर्म वाली (प्रयुक्ताः) कही गई हैं। (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु, क्रियासु) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप क्रियाओं में अथवा यज्ञ, प्राणायाम और मानसजपादि क्रियाओं में (सम्यक्, प्रयुक्तासु) भलीभान्ति प्रयोग करने पर (ज्ञः) बुद्धिमान् प्रयोक्ता (न, कम्पते) नहीं चलायमान होता ॥ ६ ॥

भावार्थः–परस्पर संबद्ध अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली तीन मात्रायें यदि ज्ञेयवर्जित हों अर्थात् केवल उन का उच्चारण मात्र किया जाय किन्तु उन से ज्ञेय ब्रह्म का मनन एवं निदिध्यासन न किया जाय, तो वे मनुष्य को जन्म मरण के चक्र से नहीं बचा सकतीं प्रत्युत और उस में फंसा देती हैं। हां जो बुद्धिमान् जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में क्रमशः यज्ञ, प्राणायाम और मानस जप इन तीन बाह्य, मध्यम और आभ्यन्तर क्रियाओं के द्वारा इन तीनों मात्राओं का समावेश करता है अर्थात् अकार से यज्ञादि का अनुष्ठान करता हुवा जाग्रत् अवस्था को जीतता है, उकार से प्राणायाम करता हुवा स्वप्न को वश में करता है और मकार से मानस जप करता हुवा सुषुप्ति को जीत

देता है, वह ध्येय में समावेशित चित्त इन मात्राओं के ठीक २ प्रयोग करने से चलायमान नहीं होता । तात्पर्य यह कि जहां इन का यथार्थप्रयोग मनुष्य को अमृत पद का भागी बनाता है, वहां इन का अन्यथा प्रयोग और भी मृत्यु की दलदल में फंसा देता है । इस लिये शास्त्र की विधि और विद्वान् आचार्य के उपदेशानुसार ही इस मार्ग में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिये, नकि स्वेच्छाचार से ॥ ६ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्त-
त्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवाऽऽय-
तनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरमसृ-
तमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

पदार्थः—(ऋग्भिः) ऋग्वेद से (एतम्) इस मनुष्य-लोक को (यजुर्भिः) यजुर्वेद से (अन्तरिक्षम्) अन्त-रिक्ष सम्बन्धी सोमलोक को (सामभिः) सामवेद से (यत् तत्) जिस उस को (कवयः) विद्वान् लोग (वेदयन्ते) जानते हैं (तम्) उक्त तीनों लोक को (विद्वान्) सदस-ज्ज्ञाता (ओंकारेण, एव, आयतनेन) ओंकार ही के अ-वलम्ब से (अन्वेति) प्राप्त होता है (यत्) जो कि (शान्तम्) रागादि दोषरहित (अजरम्) जरारहित (अमृतम्) मरणवर्जित (अभयम्) अद्वैत होने से भय-रहित (परम्) सर्वोत्कृष्ट है (तत्) उस ब्रह्म को (अन्वेति) प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र के द्वारा उपसंहार करते हुवे आचार्य कहते हैं कि इस ओंकार के ही विधिपूर्वक अवलम्बन करने से ध्याता यथेष्ट फल को प्राप्त होता है, अर्थात् एक मात्रा के ध्यान से ऋग्वेद के द्वारा मनुष्यलोक के सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है, दो मात्राओं के ध्यान से यजुर्वेद के द्वारा चन्द्रलोक के समस्त सुखों को प्राप्त करता है, एवं तीन मात्राओं के विधिपूर्वक ध्यान से सामवेद के द्वारा उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है जिस को विद्वान् लोग ही जानते हैं और जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और पर नामों से निर्देश किया जाता है ॥ ७ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ५

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ ।
भगवन् ! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ ?
तमहं कुमारमब्रुवं, नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति,

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं; स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुषइति ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) इस के उपरान्त (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इन पिप्पलाद ऋषि से (सुकेशा, भारद्वाजः) भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने (पप्रच्छ) पूछा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (हिरण्यनाभः, कौसल्यः, राजपुत्रः) कोसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने (माम् उपेत्य) मेरे पास आकर (एतं, प्रश्नम्) इस प्रश्न को (अपृच्छत) पूछा था कि (भारद्वाज) हे भरद्वाज के पुत्र ! (षोडशकलं, पुरुषम्) सोलह कला वाले पुरुष को (वेत्थ) जानता है ?, (अहम्) मैंने (तं, कुमारम्) उस राजकुमार से (अब्रुवम्) कहा कि (अहम्) मैं (इमम्) इस पुरुष को (न, वेद) नहीं जानता, (यदि) जो (अहम्) मैं (इमम्) इस को (अवेदिषम्) जानता होता तो (कथम्) क्योंकर (ते) तेरे लिये (न, अवक्ष्यम् , इति) नहीं कहता। (वै) निश्चय (एषः) यह (समूलः) मूलसहित (परिशुष्यति) सूख जाता है (यः) जो (अनृतम्) झूठ (अभिवदति) बोलता है, (तस्मात्) इस लिये (अनृतं, वक्तुम्) झूठ कहने को (न, अर्हामि) समर्थ नहीं हूं। (सः) वह राजकुमार

(तूष्णीम्) चुपचाप (रथम्, आरुह्य) रथ में सवार होकर (प्रवव्राज) चला गया। (तम्) उस पुरुष को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) पूछता हूं कि (असौ, पुरुषः) वह पुरुष (क्व, इति) कहां है ॥ १ ॥

भावार्थः—अब पञ्चम प्रश्न का उत्तर हो जाने के पश्चात् भारद्वाज का पुत्र सुकेशा भगवान् पिप्पलाद से पूछता है—हे भगवन् ! पहिले कभी कोसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने मेरे पास आकर यह प्रश्न किया था कि हे भारद्वाज ! तू उस षोडश कला वाले पुरुष को जानता है ? मैंने इस के उत्तर में कहा कि मैं नहीं जानता, मेरे सच २ कह देने पर भी जब उसे विश्वास न हुआ तब मैंने कहा कि यदि मैं जानता होता तो भला तुझ से अधिकारी को पाकर क्यों न कहता। जब इस पर भी मैंने उस को सन्तुष्ट न पाया, तब शपथ पूर्वक कहा कि जो झूठ बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है, इस लिये मैं तुझ से कभी झूठ नहीं बोल सकता। यह सुन कर वह राजकुमार चुपचाप अपने रथ में सवार होकर जहां से आया था वहीं को चला गया। इस लिये हे आचार्यप्रवर! अब मैं आप से पूछता हूं कि वह षोडश कला वाला पुरुष क्या है और कहां है ? कृपया मेरे प्रति उपदेश कीजिये ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे

सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः
षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस प्रश्नकर्त्ता के लिये (सः) वह पिप्पलाद ऋषि (ह) स्पष्ट (उवाच) बोला कि (सोम्य) हे प्रियदर्शन ! (इह, एव, अन्तःशरीरे) इस ही शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में (सः, पुरुषः) वह पुरुष है (यस्मिन्) जिस में (एताः, षोडश, कलाः) ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें (प्रभवन्ति, इति) उत्पन्न होती हैं॥ २॥

भावार्थः-अब आचार्यप्रवर पिप्पलाद ऋषि सुकेशा के प्रश्न का उत्तर देते हुवे कहते हैं-हे सोम्य ! वह पुरुष कि जिस में ये सोलह कलायें (जिन का वर्णन आगे आवेगा) उत्पन्न होती हैं, इसी शरीर के भीतर हृत्पुण्डरीक देश में निवास करता है। यद्यपि वह पुरुष पूर्ण होने से सर्वत्र ही व्यापक है, तथापि जीवात्मा को साक्षात् होने से हृत्पुण्डरीक देश में उस की स्थिति कही जाती है, इसी स्थान में योगिजनों को समाधि के द्वारा उस का साक्षात्कार होता है। जो लोग अपने भीतर उस को न खोज कर बाहर ढूंढते फिरते हैं, उन को इस श्रुति के तात्पर्य पर ध्यान देना चाहिये। यद्यपि स्वरूप से वह पुरुष निष्कल है अर्थात् सर्वत्र पूर्ण और विभु होने से उस में कोई कला वा क्रिया ठहर ही नहीं सकती, तथापि अध्यारोप से ये वक्ष्यमाण सोलह कलायें

उस में आरोपित की जाती हैं, क्योंकि ऐसा किये विना इस ब्रह्म के महत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते और न प्रतिपाद्य और प्रतिपादनादि व्यवहार प्रवृत्त हो सकते हैं, अतः जगत् को सकर्तृक सिद्ध करने के लिये और प्रत्यक्ष दृष्टान्त से परोक्ष दार्ष्टान्त की प्रतिपत्ति के लिये हमें इस अध्यारोप का आश्रय लेना पड़ता है। अर्थात् अचल और निष्कल ब्रह्म में क्रिया और कला माननी पड़ती हैं। इस की पुष्टि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का पांचवां मन्त्र भी करता है। वह यह है:— "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"॥ इस मन्त्र में ब्रह्म को एजन क्रिया का कर्त्ता और अकर्त्ता दोनों माना गया है। तात्पर्य यह कि वह अपने वास्तविक स्वरूप से तो अचल है, परन्तु इस चलायमान जगत् में व्यापक होकर इस का चलाने वाला है, इस लिये उस में भी चलत्व धर्म आरोपित किया गया है। बस इसी के अनुसार यहां भी अध्यारोप से वक्ष्यमाण सोलह कलाओं की उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म में माने गये हैं, वस्तुतः वह इन से पृथक् है॥ २॥

स ईक्षाञ्चक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त
उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा
प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि॥ ३॥

पदार्थः-(सः) उस पुरुष ने (ईक्षाञ्चक्रे) ईक्षण अर्थात् विचार किया। (अहम्) अहंतत्त्व से युक्त मैं (कस्मिन्) किस वस्तु के (उत्क्रान्ते) निकल जाने पर (उत्क्रान्तः, भविष्यामि) निकल सा जाऊंगा (वा) और (कस्मिन्) किस के (प्रतिष्ठिते) प्रतिष्ठित होने पर (प्रतिष्ठास्यामि) प्रतिष्ठित सा होऊंगा ॥ ३ ॥

भावार्थः—परमात्मा जब सृष्टि बनाना चाहता है तब सब से पहिले यह ईक्षा (विचार) करता है और इसी को उस का "तप" भी कहते हैं "यस्य ज्ञानमयं तपः" उस का विचार ही तप है अर्थात् सृष्टि बनाने से पूर्व वह यह सोचता है कि मैं जिस आधेयरूप जगत् को बनाना चाहता हूं, उस का आधार क्या हो सकता है? अर्थात् वह कौन सी वस्तु है? कि जिस के निकलने पर शरीर से अहंतत्त्व निकल जाता है और जिस के प्रतिष्ठित होने पर ही वह भी शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। उत्क्रान्ति और स्थिति अहंतत्त्व के धर्म हैं, यहां ब्रह्म में जो उन का आरोप किया गया है, वह केवल सहचार से है। जैसे देह के सहचार से जीवात्मा का जन्म मरण कहा जाता है, जो कि अजर और अमर है। इसी प्रकार यहां प्रकृति के कार्य अहंतत्त्व के साहचर्य से परमात्मा में उत्क्रान्ति और स्थिति आदि धर्म आरोपित किये गये हैं ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्यो-

लिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं
तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च॥४॥

पदार्थः—(सः) उस परमात्मा ने (प्राणम्) प्राण को (असृजत) उत्पन्न किया (प्राणात्) प्राण से (श्रद्धाम्) शुभ कर्म में प्रवृत्त कराने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि को, क्रम से (खं, वायुः, ज्योतिः, पृथिवी, इन्द्रियं, मनः) आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्च महाभूत और इन्हीं के विकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और इन का नायक संकल्पविकल्पात्मक मन, इन सब को उत्पन्न किया। इस के पश्चात् (अन्नम्) अन्न (अन्नात्) अन्न से (वीर्यम्) बल, फिर (तपः) द्वन्द्वसहिष्णुतादि तप (मन्त्राः) ऋग्यजुःसामाथर्व के मन्त्र (कर्म) यज्ञादि कर्म (लोकाः) कर्मफल के अधिष्ठान सोमादि लोक (लोकेषु) उन लोकों में (नाम, च) संज्ञादि व्यवहार भी उत्पन्न किये॥ ४॥

भावार्थः—अब क्रमशः सोलह कलाओं की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। ईक्षा (विचार) करने के पश्चात् ईश्वर ने सब से पहिले जगत् के आधार जीवात्मा के उपयोगी प्राण को उत्पन्न किया। प्राण की उत्पत्ति के पश्चात् सत्य को धारण करने वाली, विश्वास की जननी तथा मनुष्यों को शुभकर्म में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा (निश्चयात्मिका बुद्धि) को उत्पन्न किया। इस के पश्चात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्च महा-

भूतों को जो कर्म और उन के फलभोग की अधिष्ठान हैं, बनाया; तदनन्तर इन्हीं भूतों की मात्राओं से इन्द्रिय (जो दो प्रकार के हैं-एक ज्ञानेन्द्रिय दूसरें कर्मेन्द्रिय) बनाए, तत्पश्चात् इन का नायक (चलाने वाला) संकल्प विकल्पात्मक मन बनाया। कार्य और करण की उत्पत्ति के पश्चात् प्राणियों की स्थिति के लिये प्राण का आधार अन्न बनाया गया। अन्न से फिर बल की उत्पत्ति हुई, बल से तप, तप से कर्म के साधन भूत ऋगादि के मन्त्र, उन से यज्ञादि कर्म, कर्म से लोक अर्थात् उन के भोगाधिष्ठान और फिर लोकों में नाम अर्थात् संज्ञादि व्यवहार प्रवृत्त हुवे। इस प्रकर प्राणसे लेकर नामपर्यन्त सोलह कला कहलाती हैं, जोकि ये सर्गारम्भ में ईश्वर से उत्पन्न होकर प्रलय में अपने नाम रूपादि को छोड़ कर उसी में लीन हो जाती हैं, इस लिये उस को "षोड़शी" कहते हैं ॥४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥५॥

पदार्थः-(सः) दृष्टान्त-(यथा) जैसे (इमाः, नद्यः) ये नदियां (स्यन्दमानाः) चलती हुई (समुद्रायणाः) समुद्र ही है अयन [स्थान] जिन का, ऐसी (समुद्रम्) समुद्र को (प्राप्य) पाकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं, (तासाम्) उन के (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्येते) टूट जाते हैं (समुद्रः, इति, एवम्) समुद्र है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है । (एव-मेव) इसी प्रकार (अस्य, परिद्रष्टुः) इस सर्वसाक्षी पुरुष की (इमाः, षोडश, कलाः) ये सोलह कलायें (पुरुषायणाः) पुरुष ही है अयन [स्थान] जिन का ऐसी (पुरुषम्) पुरुष को (प्राप्य) पाकर (अस्तं, गच्छन्ति) अस्त हो जाती हैं (च) और (आसाम्) इन के (नामरूपे) नाम और रूप (भिद्यते) टूट जाते हैं (पुरुषः, इति, एवम्) पुरुष है इस प्रकार (प्रोच्यते) कहा जाता है (सः, एषः) वह यह सर्वसाक्षी पुरुष (अकलः) वास्तव में कलारहित (अमृतः) अविनाशी (भवति) है (तद्) उस के विषय में (एषः, श्लोकः)यह श्लोक है ॥ ५॥

भावार्थः-उक्त सोलह कलायें (जिन का वर्णन चौथे श्लोक में होचुका है) किस प्रकार ईश्वर में अस्त होती हैं, इस का दृष्टान्तपूर्वक दिखलाते हैं। जैसे गङ्गा सिन्धु आदि नदियां समुद्र की ओर जाती हुई उसको पा-कर अस्त होजातीहैं अर्थात् अपने नाम और रूप को त्याग कर समुद्र ही कहलाने लगती हैं, फिर गङ्गादि के नाम से

उस को कोई नहीं पुकारता किन्तु समुद्र के नाम से ही व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार उस सर्वसाक्षी चेतन पुरुष की ये सोलह कलायें जो सर्गारम्भ में उसी से उत्पन्न होती हैं, प्रलय में उस को पाकर अस्त होजाती हैं अर्थात् अपने नाम रूपादि को त्याग कर उसमें लीन हो जाती हैं, तब सिवाय पुरुष के और कोई निर्देश्य वस्तु ही नहीं रहती, जो व्यवहार में आसके। यद्यपि ये कलायें औपचारिक रीति पर पुरुष से उत्पन्न होकर उसी में लीन होजाती हैं, तथापि वह अपने वास्तविक स्वरूप से निष्कल और अपरिणामी है, इसी बात की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक भी करता है ॥ ५ ॥

अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

पदार्थः-(रथनाभौ) रथचक्र की नाभि में (अराइव) दण्डों के समान (यस्मिन्) जिस में (कलाः) सोलह कलायें (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (तम्) उस (वेद्यम्) जानने योग्य (पुरुषम्) पुरुष को (वेद) जानो (यथा) जैसे (वः) तुम लोगों को (मृत्युः) मौत (मा परिव्यथाः, इति) न सतावे ॥ ६ ॥

भावार्थः-जैसे रथचक्र की नाभि में सब अरे ठहरे हुवे होते हैं, इसी प्रकार जगदाधार ईश्वर में ये सोलह कलायें ठहरी हुई हैं अर्थात् वह स्वयं निष्कल भी इन

सोलह कलाओं के द्वारा इस समस्त ब्रह्माण्ड का रचन, पालन, और धारण कर रहा है । हे मनुष्यो ! यदि तुम मृत्यु के भयानक आक्रमण से बचना चाहते हो तो उस कलानाथ विज्ञेय पुरुष का शास्त्रोक्त श्रवणादि साधनों के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो, क्योंकि " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय " केवल उस ही को जानकर तुम मृत्यु का उल्लङ्घन कर सकते हो और कोई मार्ग (उपाय) संसार के बन्धन से छूटने का नहीं है ॥ ६ ॥

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

पदार्थः-(तान्) उन छहों शिष्यों से (ह) स्पष्ट (उवाच) पिप्पलाद ऋषि बोला कि (एतावत्, एव) इतना ही (अहम्) मैं (एतत्, परं, ब्रह्म) इस परब्रह्म को (वेद) जानता हूं (अतः, परम्) इस से परे वा सूक्ष्म (न, अस्ति, इति) कुछ नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थः—अब छठे प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुवे पिप्पलाद ऋषि उन छहों शिष्यों को संबोधन करते हुवे कहते हैं कि मैं इतना ही जितना तुम्हारे प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है, उस परब्रह्म को जानता हूं (इस से ऋषि की निरभिमानिता और ब्रह्म की अगाधता स्पष्टतया अभिलक्षित होती है) तात्पर्य यह कि ब्रह्म तो अगाध और अनन्त है, मेरा ज्ञान उस

के विषय में इतना ही है । " यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " जहां से वाणियां मन के साथ उस की थाह को न पाकर लौट आती हैं, वह अनन्त और अतीन्द्रिय वस्तु ब्रह्म है, उस से सूक्ष्म या परे और कोई वस्तु नहीं है, वही सब ज्ञाताऽज्ञात वस्तुओं की पराकाष्ठा है ॥ ७ ॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

पदार्थः-(ते) वे छहों शिष्य (तम्) उस आचार्य को (अर्चयन्तः) पूजते हुवे कहते हैं कि (त्वम्, हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) ब्रह्मदाता पिता है (यः) जो (अस्माकम्) हम लोगों को (अविद्यायाः) अविद्या के (परं, पारम्) परली पार (तारयसि, इति) तराता है (परमऋषिभ्यः) ब्रह्मविद्या के सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषियों के लिये (नमः) नमस्कार है । द्विर्वचन वीप्सा और ग्रन्थसमाप्तिसूचक है ॥ ८ ॥

भावार्थः- अब वे छहों शिष्य कृतज्ञतापूर्वक गुरु का पूजन करते हुवे कहते हैं कि हे ऋषिप्रवर ! आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं "उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः

पिता" इस मनु के वचनानुसार ब्रह्मदाता पिता उत्पादक पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि उत्पादक पिता से तो इस विनश्वर शरीर की उत्पत्ति होती है परन्तु ब्रह्मदाता पिता उस आत्मा का साक्षात्कार कराता है जो न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है, इसलिये उत्पादक, उपनेता, अन्नदाता, भयत्राता और विद्या-(ब्रह्म) दाता इन पांचों प्रकार के पिताओं में ब्रह्मदाता पिता सब से बढ़कर है, सो आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं अर्थात् आपने कृपा करके हम को उस अविद्या के समुद्र से (कि जिस की मिथ्याज्ञान की तरङ्गों में हम बहे जारहे थे) निकाला है, हम आप के उपकार भार से इस जन्म में तो क्या आकल्प भी मुक्त नहीं हो सकते। सिवाय नमस्कार के उपहार के और हमारे पास क्या है जो हम आप के चरणों में भेंट करैं, इस लिये हम अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से आप जैसे ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्त्तक महर्षियों के चरणों में पुनः पुनः नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥

समाप्ता चेयमुपनिषद् ॥

अबलासन्ताप

आजकल भारतवर्ष में स्त्रीजाति की जैसी कुछ दुर्दशा हो रही है, अर्थात् शास्त्र वा लोकवृत्त (रिवाज) की आड़ में जो २ अत्याचार इन पर हो रहे हैं, बस उसी का निदर्शन इस पुस्तक में किया गया है। इस में ५ निबन्ध हैं, पहिले में स्त्री पुरुषों का साम्य स्वाभाविक, युक्ति और शास्त्र के प्रमाणों से दिखलाया गया है। दूसरे में स्त्रीशिक्षा के अभाव से गृहस्थाश्रम की जैसी दुर्दशा और सन्तान की जैसी हीनता हो रही है उस का चित्र (फ़ोटो) खींचा गया है और स्त्रीशिक्षा का सर्वशास्त्रसम्मत होना और उस की सब से अधिक आवश्यकता भी प्रमाण पूर्वक दिखलाई गई है। तीसरे में बालविवाह और उस से जो २ अनर्थ उत्पन्न हुए हैं और हो रहे हैं और उन का जो स्त्रीजाति पर प्रभाव पड़ा है और पड़ रहा है, उस को बड़ी उत्तमता के साथ दिखलाया गया है। चौथे में अनमेल विवाह और उस का भयानक परिणाम दिखलाया गया है और पांचवे में उस सब से बड़े अनर्थ का (जिस को वैधव्य कहते हैं और जिस के कारण आज यह आर्यावर्त देश न केवल सन्तापाग्नि में ही जल रहा है, किन्तु पाप और दुराचार के मलिन प्रवाह में भी बह रहा है) दुखड़ा रोया गया है, जिस को पढ़कर या सुन कर एक बार तो वज्रहृदय भी पिघल ही जावेगा। मूल्य केवल ≡) निम्नलिखित उपनिषद् तयार हैं। ईश =) केन =)॥ कठ ।) प्रश्न ।) वह्निया ।=)

वेदप्रकाश

यह मासिकपत्र प्रसिद्ध पं० तुलसीराम जी की संपादकता में स्वामिप्रेस मेरठ से रायल अठपेजा साइज़ में पूरे ३२ पेज में निकलता है। इस में वैदिकधर्म से सम्बन्ध रखने वाले बड़े २ गम्भीर और शास्त्रीय लेख मुद्रित होते हैं। वैदिकधर्म और आर्यसिद्धान्तों पर जितने आक्षेप होते हैं, उन सब का बड़ी गम्भीरता और सभ्यता के साथ इस में समाधान होता है, विशेष कर ब्राह्मण सर्वस्व के आक्षेपों का युक्तियुक्त और प्रमाणगर्भित उत्तर दिया जाता है। इस के अतिरिक्त सामाजिक दशा और उस की उन्नति के उपायों पर भी इस में बड़े उत्तम २ लेख होते हैं। सामयिक उपयोगी समाचार और टिप्पणियां भी दीजाती हैं। इतने पर भी सर्वसाधारण के सुभीते के लिये मूल्य केवल १) वार्षिक है। नमूना मंगाकर देखिये

मुद्रणाधिकारो ग्रन्थकर्त्रा स्वायत्तीकृतः

ओ३म्

कठोपनिषद्



आर्योपदेशक पण्डित बदरीदत्त शर्मकृत
सरलपदार्थसंक्षिप्तभावार्थाभ्यां
समन्विता
या च
पं० तुलसीराम स्वामिना शोधयित्वा
तदीये
मेरठस्थ-(मेशीनयुक्ते) स्वामियन्त्रालये
मुद्रापिता

प्रथमवार १०००] [मूल्य ।)
संवत् १९६० ज्येष्ठ

सूचना

पाठकवर्ग! यह कठोपनिषद् का सरल भावानुवाद भी आप की सेवा में समर्पित किया जाता है। आशा है कि आप इसे सादर स्वीकार करेंगे॥

ग्रन्थकार

मिलने का पता

(१) पं० मुकुन्दराम जोशी काशीपुर

जिला-नैनीताल

वा (२) स्वामिप्रेस मेरठ

वा (३) ग्रन्थकर्त्ता

ओ३म्

कठोपनिषद् की भूमिका

यह उपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत है। इस में अलङ्कार की रीति पर मृत्यु और नचिकेता के संवाद द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। इस पर बहुत से लोग यह शङ्का करते हैं कि मृत्यु, जिस के पास नचिकेता को उस के पिता ने भेजा था, वास्तव में कोई ऋषि था या मृत्यु को ही एक व्यक्ति कल्पना कर लिया गया है? जहां तक इस विषय में विचार किया गया है वहां तक यही जाना गया है कि मृत्यु कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। मृत्यु को ही अलङ्कार की रीति पर मनुष्य मान कर कल्पित आख्यान द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। क्योंकि इस उपनिषद् में कहीं मृत्यु को यम और कहीं अन्तक नाम से निर्देश किया गया है और यह असमंजस विदित होता है कि ऋषि का नाम मृत्यु हो और फिर वह यमादि दूसरे नामों से भी (जो मृत्यु के पर्याय हैं) प्रसिद्ध हो। इस के अतिरिक्त १२ वें श्लोक में नचिकेता स्पष्ट कहता है कि "स्वर्ग में कोई भय नहीं है, न वहां तू है और न बुढ़ापे का डर" इस से स्पष्ट अवगत होता है कि नचिकेता का सङ्केत मृत्यु की ओर है न कि मृत्यु नाम वाले किसी व्यक्ति विशेष की ओर। परन्तु यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नचिकेता के पिता का यह कहना कि मैं तुझे मृत्यु को दूंगा और फिर नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और तीन दिन रात उस के द्वार पर भूखे पड़े रहना, फिर मृत्यु ने आकर उस का आतिथ्य करना और तीन दिन तक उस के द्वार पर उपवास करने के प्रायश्चित्त में तीन वर उस को देना

इत्यादि । इन सब बातों का क्या अभिप्राय है ? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मृत्यु को जब एक व्यक्ति मान लिया गया तो यह भी आवश्यक हुआ कि उस का इस रीति पर वर्णन किया जावे कि जिस से पढ़ने वाले को यह प्रतीत हो कि मृत्यु वास्तव में कोई मनुष्य है और वह मनुष्यों के समान घर में रहता है और कुटुम्ब भी रखता है इत्यादि ॥

दूसरी कल्पना इस उपनिषद् की यह भी हो सकती कि न वाजश्रवस कोई व्यक्ति है, न नचिकेता उस का पुत्र है और न मृत्यु ही कोई ऋषि है किन्तु यह सारी उपनिषद् एक अलङ्कार है । "वाजश्रवस" एक यौगिक शब्द है जो " वाज " और " श्रवस् " इन दो शब्दों से मिल कर बना है । वाज नाम यज्ञ का है और श्रवस कीर्त्ति को कहते हैं । यज्ञ ही जिस की कीर्त्ति हो अर्थात् जो यज्ञ के द्वारा प्रसिद्ध हुवा हो, उसे " वाजश्रवस् " कहते हैं । यहां वाजश्रवस् से अभिप्राय उस मन्तव्य से है जिस के अनुसार केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड ही मोक्ष का देने वाला है । इसी प्रकार "नचिकेता" शब्द का अर्थ है "न जानने वाला" अर्थात् संदिग्ध या जिज्ञासु। इस दशा में इस उपनिषद् की सङ्गति इस प्रकार होगी कि मनुष्य केवल कर्मकाण्ड से मोक्ष का भागी कदापि नहीं हो सक्ता, चाहे वह कितना ही बड़ा भारी यज्ञ क्यों न करे, जब तक उस को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक उस को सच्ची शान्ति नहीं मिलती । इस का यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञादि कर्म अनावश्यक और व्यर्थ हैं, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा दूसरी कोटि में हैं । पहिले मनुष्य शान्ति से कर्म

को ही साक्षात् मोक्ष का साधन समझता है, अन्तमें आकर जब उस को ज्ञान होता है तब वह कर्म की अवरता और ज्ञान की परता को अनुभव करता है और इस लिये इस विचार को यज्ञ का पुत्र कह सकते हैं क्योंकि यज्ञादि कर्म करने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इस विचार को मृत्यु के पास भेजने का आशय यही है कि जो लोग कर्मकाण्ड ही को सर्वोपरि मानते हैं वे ऐसे विचार में (जिस में ज्ञान का उत्कर्ष पाया जावे) अप्रसन्न होते हैं और चाहते हैं कि ऐसा विचार उत्पन्न ही न हो और यदि कथञ्चित् उत्पन्न हो जावे तो तुरन्त मृतप्राय हो जावे॥

नचिकेता का मृत्यु के पास जाना और मृत्यु का उस को उपदेश करना वास्तव में सिवाय इस के और कुछ भी नहीं कि मनुष्य जब यह अनुभव कर लेता है कि असार संसार और उस के सब ठाठ सामान सुख सम्पत्ति और विषय भोगों की वासना सब जलतरङ्गवत् अस्थिर हैं, एक दिन अवश्य इस संसार से प्रस्थान करना है और यह सब ठाठ बाठ छोड़ जाना है और यह भी कोई नहीं जान सकता कि किस समय मौत का वारण्ट आ जावे, केवल आत्मा ही अजर अमर है, यदि नित्य आत्मा इन अनित्य पदार्थों के मोह में फंसा रहा और अपनी वास्तविक उन्नति और भलाई के लिये उस ने कुछ यत्न न किया तो यह जीवन ही व्यर्थ हुआ। एतादृश संस्कारों के उदय होने पर ही उस को आत्मतत्त्व की प्रबल

जिज्ञासा होती है, उस समय वह संसार के समस्त सुखों को आत्मज्ञान के सम्मुख तुच्छ समझता है ॥

नचिकेता ने जो तीन वर मांगे वे ऐसे गम्भीर हैं, जिन में मनुष्य का सारा कर्त्तव्य आजाता है। पहिला वर यह है कि मेरा पिता मुझ से प्रसन्न रहे। इस से प्रकट होता है कि माता पिता और वृद्धों की सेवा मनुष्य का पहिला कर्त्तव्य है। दूसरा वर यह है कि स्वर्ग को दिलाने वाला अग्नि कौन है? जिस के उत्तर में मृत्यु ने कहा है कि तीनों आश्रमों के धर्म का ठीक२ पालन करना ही स्वर्ग का देने वाला अग्नि है। तीसरा वर आत्मज्ञान के विषय में है, जिस को पाकर मनुष्य के सारे शोक, मोह और भय निवृत्त हो जाते हैं और वह परमानन्द का अनुभव करता है॥

सारांश यह है कि जिस मनुष्य को मृत्यु का निश्चय हो जाता है कि एक दिन अवश्य इस संसार को छोड़ना है. वह अपने कर्त्तव्य पालन में कटिबद्ध हो जाता है और उस नित्य वस्तु की खोज में अपना सारा पुरुषार्थ लगाता है, फिर कोई प्रलोभन आत्मज्ञान की प्राप्ति से उसे विमुख नहीं कर सकता। सारी उपनिषद् इसी बात का उपदेश करती हैं कि केवल यज्ञादि कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु उस के लिये आत्मज्ञान का होना परमावश्यक है। परन्तु मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी तभी हो सकता है जब कि नियमानुसार वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान करता हुआ अपने कर्त्तव्य का पालन करे। इत्यलम् पल्लवितेन ॥ बदरीदत्त शर्मा

ओ३म्

अथ कठोपनिषत् प्रारभ्यते

प्रथमा वल्ली

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

[सत्यार्थः]–(ह, वै) सुना जाता है कि (वाजश्रवसः) वाजश्रवा के पुत्र ने (उशन्) फल की कामना करते हुवे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व को (ददौ) दान किया। (तस्य) उस वाजश्रवस का (ह) प्रसिद्ध (नचिकेता नाम) नचिकेता नाम वाला (पुत्रः) बेटा (आस) था ॥१॥

(भावार्थः)–वाजश्रवा नामक एक ऋषि था और यह नाम उस का इस लिये हुवा कि वह अन्न और विज्ञान के (जो वाज शब्द के वाच्यार्थ हैं) दान करने से प्रख्यात-कीर्त्ति था। उस के पुत्र वाजश्रवस ने फल की कामना से सर्ववेदस नाम यज्ञ किया (जो संन्यास धारण करने के समय किया जाता है) और उस में सर्वस्व को सुपात्रों के लिये दान किया । उस का एक पुत्र था, जिस का नाम नचिकेता था ॥ १ ॥

तꣳ ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

[सरलार्थः]–(कुमारं सन्तम् ह) बालक होने पर भी (तम् ह) उस नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किये हुवे पदार्थों के (नीयमानासु) यथायोग्य विभाग करते समय (श्रद्धा) आस्तिकी बुद्धि (आविवेश) प्रविष्ट हुई (सः) वह (अमन्यत) सोचता था ॥ २ ॥

(भावार्थः)–यज्ञ में जब ऋत्विजों को वाजश्रवस यथायोग्य दान का विभाग कर रहा था, उस समय नचिकेता को (यद्यपि अभी वह कुमार ही था तथापि पिता के उपदेश और ज्ञानियों के संसर्ग से सत्कर्मों में उस की निष्ठा उत्पन्न हो गई थी) यह ध्यान आया:–॥२॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्३

[सरलार्थः]–जो गायें (पीतोदकाः) जल पी चुकी हैं (जग्धतृणाः) तृण भक्षण कर चुकी हैं (दुग्धदोहाः) दूध जिन का दुहा जा चुका है (निरिन्द्रियाः) सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ हो गई हैं, (ताः) उन को जो (ददत्) दान करता है (सः) वह (अनन्दा नाम ते लोकाः) आनन्दरहित जो लोक हैं (तान्) उन को (गच्छति) जाता है ॥ ३ ॥

(भावार्थः)–जो पहिले खा पी चुकीं और दूध भी दे चुकीं, अब बुड्ढी हो जाने से न तो खा पी सकतीं हैं और न दूध ही दे सकतीं हैं। एवं सन्तान उत्पन्न करने में

भी असमर्थ हो गई हैं, ऐसी गायों को दान करने से दाता को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। फिर मेरा पिता क्यों ऐसी गौवों को दान कर रहा है? मैं उस को जहां तक हो सकेगा, इस अनिष्टापत्ति से निवृत्त करूंगा। चाहे इस में मेरा शरीर भी लग जावे। यह सोच कर वह पिता के समीप जाकर बोला—॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति द्वितीयं तृतीयम्। तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

[सरलार्थः]—(सः ह) वह नचिकेता (पितरम्) पिता से (उवाच) बोला—(तत) हे तात! (माम्) मुझ को (कस्मै) किस के लिये (दास्यसि) दोगे? पिताने बालक समझ कर उपेक्षा की, तब उस ने (द्वितीयम्) दोबारा (तृतीयम्) तिबारा उक्त वाक्य कहा कि मुझे किस के लिये दोगे? तब पिता क्रुद्ध होकर (तम्) उस से (उवाच) बोला कि (मृत्यवे) मौत के लिये (त्वा) तुझ को (ददामि इति) दूंगा ॥४॥

(भावार्थः) नचिकेता ने पिता से कहा कि आपने सर्ववेदस (जिस में सब कुछ दान कर दिया जाता है) यज्ञ किया है और इसी लिये आप सब कुछ दान कर चुके हैं। अब एक मैं शेष रहा हूं, सो मुझे आप किस के लिये दोगे? पिता ने बालक समझ कर उपेक्षा की। तब उस ने पुनः पुनः अनुरोधपूर्वक कहा कि मुझ को किस के लिये

दोगे ? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुझे मौत के लिये दूंगा ॥४॥ नचिकेता ने ससंकोच पिता से कहा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः । किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

[सरलार्थः] (बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में मैं (प्रथमः) मुख्य (एमि) समझा जाता हूं। (बहूनां) बहुतसों में (मध्यमः) मध्यम (एमि) माना जाता हूं (यमस्य) मृत्यु का (किंस्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य काम है (यत्) जो (मया) मुझ से (अद्य) आज (करिष्यति) करावेगा।५।

(भावार्थः) पिता की यह क्रूर आज्ञा सुनकर नचिकेता कहने लगा कि मैं बहुत से शिष्यों में मुख्य और बहुत सों में मध्यम हूं, किन्तु किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूं, फिर मौत का क्या काम अटका पड़ा है, जो वह आज मुझ से करावेगा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे । सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

[सरलार्थः] पिता ने उत्तर दिया कि (यथा) जैसे (पूर्वे) पहिले लोग मृत्यु को प्राप्त हुवे हैं उन को (अनुपश्य) पीछे देख (तथा) ऐसे ही (परे) अगले लोगों की गति को (प्रतिपश्य) आगे देख कि (मर्त्यः) प्राणी (सस्यम् इव) यवादि के सदृश (पच्यते) जीर्ण होकर मरता है (पुनः)

फिर (सस्यम् इव) धान्य के ही सदृश (आजायते) उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

(भावार्थः) वाजश्रवस नचिकेता से कहता है कि हे पुत्र ! पिछले तथा अगले लोगों की गति (परिणाम) को देख क्योंकि यह संसार अनित्य है। इस में जैसा अन्न क्षेत्र में पक कर वृक्ष से अलग हो जाता है,ऐसे ही प्राणी वृद्ध एवं जीर्ण होकर चोला छोड़देता है और जैसे फिर बीज क्षेत्र में पड़ कर उत्पन्न होता है, ऐसे ही गर्भाशय में आकर यह भी जन्म धारण करता है।इस लिये तू इस अनित्य शरीर का मोह मत कर क्योंकि इस के नाश के पश्चात् दूसरा देह अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।तस्यै ताᳬंशान्तिं कुर्वन्ति । हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

[सरलार्थः] हे (वैवस्वत !) विवस्वान् के पुत्र यम ! आप के (गृहान्) घरों में (वैश्वानरः) अग्नि के समान तेजस्वी (ब्राह्मणः) विद्या और तप से युक्त (अतिथिः) अभ्यागत (प्रविशति) आया हुवा है, (तस्य) ऐसे ब्रह्मचारी को [सज्जन धर्मात्मा लोग](एताम्) इस सत्कारपूर्वक (शान्तिम्) प्रसन्नता को (कुर्वन्ति) करते हैं,[अतः आप पाद्यादि के लिये](उदकम्) जलादि को (हर) प्राप्त कीजिये ॥ ७ ॥

(भावार्थः) इस प्रकार पिता के वाक्य को सुनकर

नचिकेता मृत्यु के द्वार पर पहुंचा, वहां पहुंच कर तीन रात तक आतिथ्य की प्रतीक्षा करता हुवा विना अन्न जल के रहा। जब किसी ने इस की बात न पूंछी तो चौथे दिन उस ने स्वयं मृत्युदेव से कहा कि हे वैवस्वत!* आप के घर में अग्नि के समान तेजस्वी, वर्चस्वी, ब्रह्मचारी अतिथिरूप से आया है। उस के आतिथ्य के लिये आप जलादि का आहरण कीजिये, क्योंकि सज्जन पुरुष अतिथिसत्कार को अपना मुख्यकर्त्तव्य समझते हैं ॥७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्ते पुत्र-
पशूꣳश्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्प-
मेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥८॥

[सरलार्थः] (यस्य पुरुषस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् अतिथि (अनश्नन्) निराहार (वसति) रहता है (तस्य अल्पमेधसः) उस अल्पबुद्धि के (आशाप्रतीक्षे) ज्ञात वस्तु की चाहना आशा और अज्ञात वस्तु की कामना प्रतीक्षा कहलाती है। इन दोनों (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाले फल (सूनृताम्) प्रिय वाणी (च) उस की निमित्त दयादि (इष्टापूर्ते) यज्ञादि श्रौत कर्म के फल को इष्ट और अनाथरक्षणादि

* विवस्वान् नाम सूर्य का है; उस का पुत्र मृत्यु को इस लिये कहा कि सूर्य ही अपने उदयास्त से आयु का आदान करता है और इसीलिये उस को आदित्य भी कहते हैं॥

स्मार्त कर्म के फल को पूर्त कहते हैं,इन दोनों को भी (च) और (सर्वान्) सब (पुत्रपशून्) पुत्र और पशु (एतत्) इस सब को (वृङ्क्ते) [सत्कार न किया हुवा अतिथि] नाश करता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस श्लोक में जो अतिथि का सत्कार नहीं करते उन के प्रति अनिष्ट फल का निर्देश किया गयाहै। पारिषद्गण पुनः मृत्यु से कहते हैं कि जिस के घर से अतिथि भूखा जाता है, उस के उक्त शुभ कर्मों के फल को भी वह अपने साथ लेजाता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—" अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ "अर्थ—जिस के घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उस का पुण्य लेकर और पाप उसे देकर जाता है ॥

इस लिये इस अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना चाहिये । जिससे कि सुकृत का विलोप न हो ॥८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्न-तिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥९॥

सरलार्थः—(ब्रह्मन् !) हे ब्रह्मवित् ! आप (अतिथिः) आगमनतिथि के नियत न होने से अतिथि हैं अतएव (नमस्यः) नमस्कार करने के योग्य हैं (ते) आप के लिये (नमः) प्रणाम (अस्तु) हो । (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण

(अस्तु) हो। हे (ब्रह्मन्!) ब्राह्मण! (यत्) जो आप (मे) मेरे (गृहे) घर में (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रि (अनश्नन्) अन्न जल के बिना (अवात्सीः) बसे (तस्मात्) इस कारण (प्रति) प्रति रात्रि एक २ के हिसाब से (त्रीन् वरान्) तीन वरों को (वृणीष्व) अङ्गीकार करें॥

भावार्थः—पारिषदों के इस प्रकार निवेदन करने पर मृत्यु ने चिकेताको सम्बोधन करके कहता है कि—हे ब्रह्मन्! आप अतिथि होने से नमस्करणीय हैं, अतः आप के लिये मैं प्रणाम करता हूं। आप के आशीर्वाद से मेरा कल्याण हो। पुनः अपने अपराध की क्षमा चाहता हुआ मृत्यु नचिकेता से यह आशीष् करता है कि—हे ब्रह्मन्! आप मेरे घर में तीन रात्रि बराबर (उपोषित) बिना आहार के रहे हैं, इस लिये आप प्रतिरात्रि एक एक के हिसाब से तीन वर (जो मैं आप को देना चाहता हूं) अङ्गीकार कीजिये॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु-
र्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदे-
त्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥१०॥

सरलार्थः—(मृत्यो!) हे मृत्यु! (गौतमः) गोतमगोत्रीय मेरा पिता (मा अभि) मेरे प्रति (शान्तसङ्कल्पः) शान्तचित्त, (सुमनाः) प्रसन्नमन, (वीतमन्युः) विगतरोष (यथा) जैसे (स्यात्) होवे, (त्वत्प्रसृष्टं) आप के भेजे

हुवे (मा अभि) मुझ को देख कर (प्रतीतः सन्) लब्धस्मृति होकर [कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था] (वदेत्) बोले। (एतत्) यह (त्रयाणां) तीन में से (प्रथमम्) पहिला (वरम्) वर (वृणे) चाहता हूं ॥ १० ॥

भावार्थः-मृत्यु के उक्त वचन को सुन कर नचिकेता ने कहा कि जैसे मेरा पिता मुझ पर प्रसन्न और कृपालु हो जावे, अर्थात् इस बीच के उत्पन्न हुवे क्रोध को त्याग कर पूर्ववत् वर्त्तने लगे और आप के भेजे हुवे मुझ को पहचान कर कि यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, जिस को मैंने मृत्यु के पास भेजा था, प्रीतिपूर्वक सम्भाषण करे और कुशल क्षेमादि पूछे। यह मैं उन तीन वरों में से (जो आप मुझे देना चाहते हैं) पहला वर आप से मांगता हूं ॥१०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥११॥

पदार्थः-(औद्दालकिः) उद्दालक वंशी (आरुणिः) अरुण* का पुत्र तेरा पिता (यथा) जैसा (पुरस्तात्) पहले था वैसा ही (मत्प्रसृष्टः) मुझ से प्रेरित वा बोधित होकर (प्रतीतः) तुझ पर विश्वास करने वाला (भविता) अवश्य होगा, (रात्रीः) शेष रात्रियों में भी (सुखम्)

* यह वाजश्रवा का दूसरा नाम था ॥

सुखसे (शयिता) सोवेगा और(वीतमन्युः) विगतरोष हो कर (त्वाम्) तुझ को (मृत्युमुखात्) मौत के मुंह से (प्रमुक्तम्) छुटा हुवा (ददृशिवान्) देखेगा ॥ ११ ॥

भावार्थः-इस प्रार्थना को सुन कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि तेरा पिता जैसा पहले तुझ से स्नेह भाव रखता था वैसा ही अब मुझ से प्रेरित होकर तुझ पर दयालु होगा और अब विगतरोष होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक सोवेगा और तुझे मौत के मुंह से छुटा हुवा पाकर अत्यन्त हर्षित होगा ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

पदार्थः-(स्वर्गे लोके) स्वर्गलोक=मोक्षमें (किञ्चन) कुछ भी (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं है, (न तत्र) न वहां पर (त्वं) तू=मृत्यु है और (न) न कोई (जरया) बुढ़ापे से (बिभेति) डरता है,(अशनायापिपासे) भूख और प्यास (उभे) दोनों को(तीर्त्वा) तरकर (शोकातिगः)शोकसे वर्जित पुरुष (स्वर्गलोके) मोक्ष में (मोदते)आनन्द करता है ॥१२॥

भावार्थः-नचिकेता द्वितीय वर की याचना करता हुवा मृत्युसे कहताहै कि स्वर्गलोक में कुछभी भय नहीं है। वहां पर न रोग ही होते हैं और न बुढ़ापा ही किसी को सताताहै और तू=मृत्यु भी वहां पर आक्रमण नहीं करता।

उस स्वर्गलोक में जीवात्मा भूख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को जीत कर शोकरहित हो आनन्द करता है ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

सरलार्थः—(मृत्यो!) हे मृत्यु! (सः त्वम्) सो तू (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्नि को (अध्येषि) जानता है (तम्) उस को (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखते हुवे (मह्यम्) मेरे लिये (प्रब्रूहि) वर्णन कर [जिस के यथायोग्य अनुष्ठान करने से] (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग के अधिकारी जन (अमृतत्वम्) अमरत्व को (भजन्ते) सेवन करते हैं। (एतद्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनः कहता है कि उस स्वर्ग के साधनभूत ज्ञानाग्नि को आप भले प्रकार जानते हैं। कृपया मुझ श्रद्धालु के प्रति भी उस का उपदेश कीजिये, जिस से मैं भी अमरत्व को प्राप्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बनूं। यह मैं दूसरे वर से मांगता हूं ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

सरलार्थः-(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के साधनभूत (अग्निम्) ज्ञानाग्निको (प्रजानन्) जानता हुवा (ते) तेरे लिये (तत्) उस विद्या को (प्रब्रवीमि) मैं कहता हूं (मे) मेरे वचन को (निबोध) सुन वा जान (अथो) इस के अनन्तर (त्वम्) तू (एतम्) इस अग्नि को (अनन्तलोकाप्तिम्) विविध स्थानों में प्राप्त करानेवाला (प्रतिष्ठाम्) जगत् की स्थिति का हेतु (गुहायाम्) बुद्धि में (निहितम्) स्थित वा व्याप्त (विद्धि) जान ॥ १४ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि मैं ज्ञानाग्नि को, जिस का मुझे पूर्ण अनुभव है, तेरे प्रति उपदेश करता हूं, तू सावधान होकर सुन। जिस अग्नि को जानने से मनुष्य पृथिवीस्थ वा अन्तरिक्षस्थ अनेक स्थानों में अनायास जा आसकता है और जो सारे जगत् की स्थिति का हेतु है। यह बुद्धि से जाना जाता है ॥१४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

सरलार्थः-(तस्मै) उस नचिकेता के लिये (लोकादिम्) सृष्टि की आदि में उत्पन्न अथवा दर्शन के हेतु (तम्) उस (अग्निम्) अग्नि का (उवाच) व्याख्यान किया [और उस अग्नि से सिद्ध होने वाले यज्ञयागादि में] (याः)

जो (या) या (यावतीः) जितनी (वा) या (यथा) जिस प्रकार से (इष्टकाः) ईंटें चिननी चाहियें वा जिस प्रकार अग्निचयन करना चाहिये, यह सब वर्णन किया (सः च अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा) जिस प्रकार (उक्तम्) मृत्यु ने उपदेश किया था (तत्) उस को (प्रति अवदत्) प्रत्यक्ष अनुवाद करके सुनाया (अथ) इस के अनन्तर (अस्य) इस के ऊपर (मृत्युः) मृत्यु (तुष्टः सन्) प्रसन्न होता हुआ (पुनः एव) फिर भी (आह) बोला ॥

भावार्थः—उपनिषत्कार कठऋषि कहते हैं कि मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उक्त अग्नि का सविस्तर व्याख्यान किया और ज्ञानयज्ञ के लिये उपयोगी वेदि तथा अग्निचयन की विधि भी बतलाई, जिस को उस ने धारण करके प्रत्यक्ष अनुवाद भी कर दिया। जिस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर उस से कहता है ॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

सरलार्थः—(महात्मा) उच्चभाव से भावित मृत्यु (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) बोला कि—(भूयः) फिरभी (इह) इस दूसरे वर के प्रसङ्ग में (तव) तुम्हारे लिये (अद्य) इस समय

(वरम्) वर को (ददामि) देता हूं (अयम्) यह वि-धान किया हुआ (अग्निः) अग्नि (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से प्रसिद्ध (भविता) होगा (च) और (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) चित्र विचित्र (सङ्काम्) माला वा प्रतिष्ठा को (गृहाण) स्वीकार कर ॥१६॥

भावार्थः—नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर मृत्यु उस से कहता है कि मैं इस दूसरे वर के साथ ही एक और वर तुझे देना चाहता हूं और वह यह है कि यह अग्नि जिस का मैंने तेरे प्रति उपदेश किया है, तेरे ही (नाचिकेत) नाम से प्रसिद्ध होगा। अब तू मेरी दी हुई इस प्रतिष्ठा वा माला को ग्रहण कर ॥ १६ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्त-रति जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञन्देवमीड्यं विदि-त्वा निचाय्येमाᳬशान्तिमत्यन्तमेति॥१७॥

संस्कारार्थः—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता के प्रति जिस का विधान किया गया वह "नाचिकेत" अग्नि कहलाता है उस को जो तीन वार चयन करे वह पुरुष (त्रिभिः) तीन से (सन्धिम्) सम्बन्ध को (एत्य) प्राप्त होकर (त्रि-कर्मकृत्) तीन कर्म करने वाला (जन्ममृत्यू) जन्म और मरण के (तरति) पार होजाता है (ब्रह्मजज्ञम्) वेद रूप ज्ञान के उत्पन्न और धारण करने वाले (ईड्यम्) स्तुति के योग्य (देवम्) परमात्मा को (विदित्वा) जान

कर और (निचाय्य) निश्चय करके (अत्यन्तम्) अतिशय (शान्तिम्) शान्ति को (एति) प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों में आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम से ३ अग्नियों को चयन करने वाला पुरुष माता, पिता एवं आचार्य इन तीन उपदेष्टाओं के सत्सङ्ग तथा उपदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों का यथायोग्य अनुष्ठान करता हुआ जन्म और मरण के बन्धनों को शिथिल करता है, तत्पश्चात् ज्ञानमय ब्रह्म को जान कर परमशान्ति (मुक्ति) का अधिकारी बनता है ॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वां-
श्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः
प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥१८॥

सरलार्थः—(यः) जो (विद्वान्) ज्ञानवान् (त्रिणाचिकेतः) उक्त विधि से तीनवार चयन करने वाला पुरुष (एतत्, त्रयम्) इस तिगड्डे को (विदित्वा) जान कर (एवं) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (चिनुते) चयन करता है (सः) वह (मृत्युपाशान्) मौत के बन्धनों को (पुरतः) आगे से (प्रणोद्य) छिन्न भिन्न कर (शोकातिगः) शोक से रहित होकर (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में (मोदते) आनन्द करता है ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य उक्त तीनों आश्रमों में उक्त तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करके उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का यथाविधि सेवन करता हुआ नाचिकेत अग्नि का सञ्चयन करता है, वह आगे होने वाले मौत के बन्धनों को तोड़ कर स्वर्ग में आनन्द करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः ! स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण । एतमग्निन्तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

सरलार्थः—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (एषः) यह (अग्निः) ज्ञानाग्नि (स्वर्ग्यः) स्वर्ग का उपयोगी (ते) तुम्हारे लिये कहा गया (यम्) जिस को (द्वितीयेन वरेण) दूसरे वर से (अवृणीथाः) तुमने मांगा था (एतम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (तव एव) तुम्हारे ही नाम से (जनासः) मनुष्य लोग (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे । (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (तृतीयम् वरम्) तीसरे वर को (वृणीष्व) मांग ॥ १९ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेतः ! यह स्वर्ग का सोपान अग्नि, जिस को तैंने दूसरे वर से मांगा था, मैंने तेरे लिये दिया और इस अग्नि को तेरे ही नाम से प्रसिद्ध भी किया । अब तू तीसरा वर मांग ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके

नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्ट-
स्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

सरलार्थः–(मनुष्ये प्रेते) मनुष्य के मरने पर (अयम्) यह आत्मा (अस्ति इति एके) है ऐसा कोई मानते है (च) और (न अस्ति इति एके) नहीं है, ऐसा अनेक लोग मानते हैं, इस प्रकार (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) सन्देह है सो (त्वया) आप से (अनुशिष्टः) उपदेश पाया हुवा (अहम्) मैं (एतत्) इस आत्मसत्ता को (विद्याम्) जानूं । (वराणाम्) वरों में (एषः) यह (तृतीयः) तीसरा (वरः) वर है ॥२०॥

भावार्थः–उक्त दोनों वरों को पाकर नचिकेता मृत्यु से कहता है कि मनुष्य के मरने पर जो यह संशय होता है कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है या नहीं? इस को मैं आप से उपदेश पाकर जानना चाहता हूं । यही मेरा तीसरा वर (अभीष्ट) है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुवि-
ज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

सरलार्थः–(पुरा) पहले (अत्र) इस आत्मिक विषय में (देवैः अपि) देवताओं ने भी (विचिकित्सितम्) सन्देह किया था (हि) निश्चय (एषः) यह

आत्मज्ञानरूप (धर्मः) धर्म विषय (अणुः) अति सूक्ष्म होने से (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है, अत एव (नचिकेतः) हे नचिकेता ! तुम (अन्यं वरम्) और वर को (वृणीष्व) मांगो (मा) मुझ को (मा उपरोत्सीः) ऋणी के तुल्य मत दबाओ (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अति सृज) त्याग दो ॥ २१ ॥

भावार्थः—इस तीसरे वर को सुन कर मृत्यु नचिकेता की परीक्षा करने के लिये कि यह आत्मज्ञान का अधिकारी है वा नहीं ? उस से कहता है कि—इसी विषय पर पहले बड़े २ विद्वानों के सन्देह और वाद होचुके हैं, वे भी पूर्णरूप से इस की मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अतिसूक्ष्म होने से दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इस में प्रवृत्त होने से प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे। अतएव हे नचिकेता ! तुम और कोई वर, जिस के फल में सन्देह न हो, मुझ से मांगो । मुझे अधमर्ण के समान मत दबाओ और इस वर की हठ छोड़ दो ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो !
यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न
लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

सरलार्थः—(मृत्यो !) हे अन्तक ! (अत्र) इस विषय पर (देवैः अपि) बड़े २ विद्वानों ने भी (विचिकित्सितम्)

सन्देह का अन्वेषण किया है (त्वं च किल) और तू भी (यत् सुविज्ञेयं न) जो सुगमता से जानने के योग्य नहीं है ऐसा (आत्थ) कहता है (अस्य) इस विषय का (वक्ता) कहने वाला (त्वादृक्) तेरे तुल्य (अन्यः) और (न लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस वर के (तुल्यः) बराबर (अन्यः कश्चित् वरः न) और कोई वर नहीं है॥२२॥

भावार्थः—यम वचन सुन कर नचिकेता बोला कि—हे मृत्यु! जब बड़े २ विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा और आलोचना की है और तू भी इसको अतिसूक्ष्म और दुर्ज्ञेय बतलाता है इसीसे इसका परमोत्तम और सर्वोपरि होना अनुमान किया जाता है और तेरे समान उपदेष्टा मुझे कहां मिलेगा? जो ऐसे गहन और कठिन विषयको मेरे हृदयङ्गम और बुद्धिगोचर करेगा। अतः मेरी सम्मति में इस के बराबर और कोई वर नहीं है॥ २२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥२३॥

सरलार्थः—(शतायुषः) सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले (पुत्रपौत्रान्) बेटेपोतों को (वृणीष्व) मांग और (बहून् पशून्) बहुतसे गाय बैल आदि पशु (अश्वान्) घोड़े (हस्तिहिरण्यम्) हाथी और सुवर्ण आदि तथा (भूमेः) पृथिवी के (महत्) बड़े (आयतनम्) माण्डलिक राज्य को (वृणीष्व) मांग (स्वयं

च) और तू भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्ष (इच्छसि) चाहता है (जीव) जीवन धारण कर ॥ २३ ॥

भावार्थः—नचिकेता का तद्विषयक आग्रह सुनकर फिर भी मृत्यु उसको प्रलोभन देता हुवा कहता है कि—दीर्घजीवी पुत्र, पौत्र, गौ, अश्व, हस्ती आदि उत्तम २ पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थ, पृथिवी के एक मण्डल का राज्य; यह सब मुझसे मांग, मैं तुझे दूंगा। यदि इस में यह शङ्का हो कि अपने बिना यह सब तुच्छ हैं तो अपना जीवन भी जितना चाहता है, मांग ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानान्त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

सरलार्थः—(यदि) जो (एतत्) इस उक्त वर के (तुल्यम्) बराबर (वरम्) वक्ष्यमाण वरको (मन्यसे) मानता है तो (वित्तम्) ऐश्वर्य के साधन धन (च) और (चिरजीविकाम्) सदा की आजीविका को (वृणीष्व) मांग। (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (त्वम्) तू (महाभूमौ) बड़ी पृथिवी पर (एधि) बढ़ने वाला हो अर्थात् सार्वभौम राज्य को प्राप्त हो (त्वा) तुझ को (कामानाम्) सम्पूर्णकामनाओं का (कामभाजम्) भोग करने वाला (करोमि) करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थः—पुनः मृत्यु कहता है कि यदि तू उक्त वर के तुल्य सदा की आजीविका और प्रभूत धन को समझता है

तो उस को भी मांग और यदि इन सब से बढ़ कर सार्वभौम राज्य का अभिलाष है तो वह भी मैं तेरे लिये दे सकता हूं और तेरी जो कामना हो उसे पूर्ण कर सकता हूं॥२४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षीः॥२५॥

सरलार्थः–(मर्त्यलोके) पृथिवी में (ये ये) जो जो (कामाः) कामनायें (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं उन (सर्वान्) सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) यथेष्ट (प्रार्थयस्व) मांग। (इमाः) ये (सरथाः) रथादि यानों सहित (सतूर्याः) वादित्रादि सहित (रामाः) रमणीय स्त्रियां हैं (आभिः) इन (मत्प्रत्ताभिः) मेरी दी हुई युवतियों से (परिचारयस्व) अपनी सेवा शुश्रूषा कराओ। (हि) निस्सन्देह (ईदृशाः) ऐसी स्त्रियां (मनुष्यैः) साधारण मनुष्यों से (न लम्भनीयाः) अप्राप्य हैं। (नचिकेतः) हे नचिकेता! (मरणम्) मौत को (मा अनुप्राक्षीः) मत पूछ॥ २५॥

भावार्थः–पुनः मृत्यु कहता है कि जो २ कामनायें इस मर्त्य लोक में दुष्प्राप्य हैं, उन सब को यथारुचि मांग और ये विविध यान एवं वादित्रादि सहित जो मनोहारिणी स्त्रियां हैं इन के साथ रमण कर। ऐसी रूपवती

स्त्रियां मनुष्यों को दुर्लभ हैं। हे नचिकेता! ऐसे दिव्य पदार्थों को छोड़ कर मौत का प्रश्न क्यों करता है? ॥ २५ ॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां
जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्प-
मेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

सरलार्थः–(अन्तक!) हे मृत्यु! (यत्) क्योंकि (श्वोभावाः) कल ही कल (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब इन्द्रियों के (एतत्) इस (तेजः) तेज का (जरयन्ति), नाश करे देती हैं। (सर्वम् अपि जीवितम्) सब जीवन भी (अल्पम् एव) अल्प ही है [अतएव प्राणी] (तवएव) तेरे ही (वाहाः) वाहन रहे [और] (नृत्यगीते) नाचना, गाना भी (तव) तेरा ही रहा ॥२६॥

भावार्थः–इस प्रकार बहुविध प्रलोभित किया हुआ भी नचिकेता अपने अभीष्ट वर को नहीं त्यागता और मृत्यु से कहता है कि यह सब कल ही कल में बीतने वाले समय, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करने वाले हैं और समस्त जीवन भी चाहे उस की पूर्ण अवधि ही क्यों न हो, मुक्तिसुख की अपेक्षा अल्प ही है क्योंकि यह सब मिलने पर भी अन्त में तो तेरे ही आधीन रहना पड़ा और तू (मृत्यु) ही शिर पर नाचता रहा ॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्त-

मद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्य-
सि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

सरलार्थः—(मनुष्यः) प्राणी (वित्तेन) धन से (न तर्पणीयः) तृप्त नहीं होसकता (चेत्) जो (त्वा) तुझ मौत को (अद्राक्ष्म) हम ने देखा तो (वित्तम्) ऐश्वर्यभोग को (लप्स्यामहे) प्राप्त होंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) तू (ईशिष्यसि) चाहेगा तब तक (जीविष्यामः) जीवेंगे अतः (मे) मुझ को (वरः तु) वर तो (स एव) वह ही (वरणीयः) मांगना है ॥२७॥

भावार्थः—पुनः नचिकेता कहता है कि धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती और यदि तुझ को देखेंगे तो धन मिलेगा, इस लिये मुझे धन की स्पृहा नहीं है और जीवन भी जब तक तू (मृत्यु) न हो तभी तक है, अतएव इसकी भी आकाङ्क्षा नहीं है। वर तो मेरा केवल वही प्रार्थनीय है, जिस की याचना मैं कर चुका हूं ॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्व-
धःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमो-
दानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

सरलार्थः—(अजीर्यताम्) जरा से जीर्ण न होने वाले (अमृतानाम्) मुक्त पुरुषों को (उपेत्य) प्राप्त होकर (क्वधःस्थः) पृथिवी के अधोभाग में स्थित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (जीर्यन्) शरीरादि के नाश का अनुभव

करता हुआ (वर्णरतिप्रमोदान्) सुन्दर वर्ण और सुरत-जन्य विनश्वर सुखों को (अभिध्यायन्) शोचता हुवा (कः) कौन (प्रजानन्) जानता हुवा (अतिदीर्घे जीवते) बहुत बड़े जीवन में (रमेत) रमण करे ॥२८॥

भावार्थः—नचिकेता पुनः कहता है कि मरणरहित मुक्त पुरुषों को पाकर एवम् सांसारिक सुखभोगों की विनश्वरता को देखता हुवा कौन ऐसा निकृष्ट दशा में स्थित प्राणी है, जो मुक्ति जैसे उच्चकक्षा के सुख को छोड़ कर अतिदीर्घकालीन जीवन की (जो नाना प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण है) इच्छा करे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्प-
राये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनु-
प्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

सरलार्थः—(मृत्यो !) हे मृत्यु ! (यस्मिन्) जिस आत्म-ज्ञानविषय में (इदम्) आत्मा कोई है वा नहीं ? यदि है तो कहां है ? और कैसा है ? इत्यादि प्रकार से (विचिकित्सन्ति) सन्देह करते हैं (यत्) जो (महति) अनन्त (साम्पराये) परमार्थ दशा में [प्राप्त किया जाता है] (तत्) उस आत्मज्ञान का (नः) हमारे प्रति (ब्रूहि) उपदेश कर (यः) जो (अयम्) यह प्रसङ्गप्राप्त (गूढम्) गुप्त (वरः)

वर (अनुप्रविष्टः) मेरे मन में समाया हुआ है (तस्मात्) उस से (अन्यम्) भिन्न वर को (नचिकेता) मैं (न वृणीते) नहीं चाहता ॥ २९ ॥

भावार्थः—नचिकेता पुनरपि कहता है कि हे मृत्यु ! जिस आत्मा के विषय में लोग अनेक प्रकार से सन्देह करते हैं और जो केवल पारमार्थिक दशा में जाना जाता है, उसी आत्मतत्व का मेरे प्रति उपदेश कर । यह मेरा गूढ़ अभीष्ट, जो मेरे हृदय में समाया हुआ है, इस से भिन्न और कोई वर मैं नहीं चाहता ॥ २९ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमा वल्ली समाप्ता



अथ द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः । तयोःश्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

सरलार्थः—(श्रेयः) निःश्रेयसरूप कल्याण का मार्ग (अन्यत्) और है (उत) और (प्रेयः) अभ्युदयरूप रोचक मार्ग (अन्यत् एव) और ही है (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न २ प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) वासनारूप रज्जु से बांधते हैं (तयोः) उन दोनों में से (श्रेय आददानस्य) श्रेय ग्रहण

करने वाले का (साधु) कल्याण (भवति) होता है (य च) और जो (प्रेयः)प्रेय को(वृणीते)ग्रहण करता है वह(अर्थात्) परमार्थ रूप प्रयोजन से (हीयते) भ्रष्ट हो जाता है ॥१॥

भावार्थः—जब ऐसे २ प्रलोभन देने पर भी नचिकेता अपने सङ्कल्प से न हटा, तब मृत्यु उस को आत्मज्ञान का अधिकारी समझ कर उपदेश करता है कि—हे नचिकेता! इस संसार में मनुष्यों के लिये दो मार्ग हैं। १ श्रेय, २ प्रेय। इन्हीं को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग भी कहते हैं। श्रेय मार्ग—जिस में चलने से मनुष्य का कल्याण होता है, प्रेय मार्ग से—जिस में फंस कर मनुष्य लोलुप और अधीर हो जाता है,अत्यन्त विलक्षण है। इन में से प्रेय को ग्रहण करने वाला श्रेय से वञ्चित रहजाता है ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य वि-
विनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृ-
णीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ २ ॥

सरलार्थः—(श्रेयः) अरोचक परन्तु कल्याण का मार्ग (च) और (प्रेयः) रोचक परन्तु अकल्याण का मार्ग यह दोनों (मनुष्यम्) मनुष्य को(एतः) प्राप्त होते हैं (धीरः) बुद्धिमान् (तौ) उन दोनों को (सम्परीत्य) सम्यक् प्राप्त होकर (विविनक्ति) विवेचन करता है (धीरः हि) विद्वान् ही (प्रेयसः) प्रवृत्ति मार्ग से (श्रेयः) निवृत्ति मार्गको (अभिवृणीते) सब ओर से ग्रहण करता है (मन्दः)

मूर्ख (योगक्षेमात्) धनादि के उपार्जन और रक्षण से (प्रेयः) प्रवृत्ति मार्ग को ही (वृणीते) स्वीकार करता है ॥२॥

भावार्थः—यद्यपि श्रेय मार्ग कष्टसाध्य होने से आदि में अरोचक और नीरस सा प्रतीत होता है, तद्विरुद्ध प्रेय सुखसाध्य होने से प्रथम रोचक और सरस प्रतीत होता है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष " यत्तदग्रे विषमिव परिणामे मृतोपमम् "जो पहले विष के समान प्रतीत होता है, परिणाम में वही अमृत के तुल्य हो जाता है । इस के तत्व को जानता हुवा परमार्थ के आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु मन्दबुद्धि जन पहले ही सुखाभास में लिप्त होकर सदा के लिये वास्तविक सुख से हाथ धो बैठता है ॥२॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्या-यन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳसृङ्कां वित्तमयी-मवाप्तो यस्यांमज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

अन्वयार्थः—(नचिकेतः !) हे नचिकेता ! (सः त्वम्) सो तैने (प्रियान्) पुत्र पौत्रादि (प्रियरूपान्) सुन्दरी कामिनी आदि (कामान्) भोगों को (अभिध्यायन्) उन की असारता को विचार कर (अत्यस्राक्षीः) छोड़ दिया (एताम्) इस भोगैश्वर्य्यरूप (सृङ्काम्) शृङ्खला में (न अवाप्तः) नहीं फंसा (यस्याम्) जिस में (बहवः) बहुत (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि—हे नचिकेता ! तैने सांसा-

रिक सुख भोगों को अनित्य और असार समझ कर त्याग दिया। अर्थात् प्रेय मार्ग का, जिस में सांसारिक प्रायः मनुष्य फंसे रहते हैं, अनुसरण नहीं किया। इस लिये तू आत्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनन्नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥ ४ ॥

सरलार्थः-(एते) उक्त दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग (विपरीते) परस्पर विरुद्ध (विषूची) वैधर्म्यसूचक (दूरम्) भिन्न २ हैं [विद्वानों ने उक्त दोनों मार्ग] (अविद्या या च विद्या इति) अविद्या और विद्या के नाम से (ज्ञाता) जाने हैं। मैं (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता को (विद्याभीप्सिनम्) विद्या का चाहने वाला अर्थात् श्रेयःपथगामी (मन्ये) मानता हूं इस लिये कि (त्वा) तुझ को (बहवः कामाः) बहुत सी कामनायें (न लोलुपन्त) प्रलोभित नहीं कर सकीं ॥ ४ ॥

भावार्थः-मृत्यु कहता है कि जैसे दिन रात, सुख दुःख इत्यादि परस्परविरुद्ध होने से महान् अन्तर रखते हैं। इसी प्रकार उक्त श्रेय और प्रेय मार्ग भी परस्पर प्रतिकूल हैं। विद्वान् लोग इन्हीं का विद्या और अविद्या के नाम से निर्देश करते हैं। तुझ को बहुत सी कामनायें(जो अविद्या से उत्पन्न होती हैं) प्रेय मार्ग में न लेजा सकीं,

इस लिये मैं तुझे विद्यानुरागी अर्थात् श्रेयःपथानुगामी समझता हूं ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयन्धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥५॥

सरलार्थः-(अविद्यायाम् अन्तरे) अविद्या के बीच में (वर्त्तमानाः) पड़े हुवे (स्वयं) अपने को (धीराः) धीर और (पण्डितं मन्यमानाः) पण्डित मानते हुवे (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिलपथगामी अथवा इधर उधर घूमते हुवे (मूढाः) विक्षिप्तचित्त (अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः) जैसे अन्धेसे लेजाये गये अन्धे(परियन्ति)घूमते हैं।५।

भावार्थः-प्रेयमार्ग में अनुधावन करने वाले कामुक पुरुष यद्यपि चारों ओरसे अविद्यामें फंसेहुवे होतेहैं,तथापि अपने को धीर और पण्डित मानते हुवे कुटिल पथ में प्रवेश करते हैं और मोह के चक्र में पड़कर इधर उधर घूमते हैं। ऐसों के अनुयायियों की वही दशा होती है, जो अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धों की ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

सरलार्थः-(वित्तमोहेन) धन के मोह से (मूढम्)

मुग्ध (प्रमाद्यन्तम्) प्रमत्त (बालम्) विवेकरहित पुरुष को (साम्परायः) परलोक वा परमार्थसम्बन्धी विचार वा अन्वेषण (न प्रतिभाति) नहीं भाता। (अयम्) लोकः) यही लोक है (परः नास्ति) परलोक वा परमार्थ नहीं है (इति) ऐसा (मानी) मानने वाला(पुनः पुनः) वारंवार (मे) मुझ मृत्यु के (वशम्) वश में (आपद्यते) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः-मृत्यु नचिकेता से कहता है कि-जो पुरुष धनादि पदार्थों के मोह से उन्मत्त और विवेकरहित हो रहे हैं, उन को परमार्थ की बातें नहीं सुहातीं । वे इस प्रत्यक्ष संसार को ही अनन्य सुख का साधन मानकर परमार्थ को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं, ऐसे लोग वारंवार मेरे वश में पड़कर मरण के दुःखों को भोगते हैं ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलो- ऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

सरलार्थः-(यः) जो परमात्मा (बहुभिः) बहुतों को (श्रवणाय अपि) सुनने के लिये भी (न लभ्यः) नहीं मिलता (शृण्वन्तः अपि) सुनते हुए भी (बहवः) अनेक जन (यं) जिस को (न विद्युः) नहीं जानते (अस्य) इस परमात्मा का (वक्ता) प्रवचन करने वाला (आश्चर्यः) कोई विरला ही होता है, (अस्य) उसका

(लब्धा) पानेवाला (कुशलः) कोई बड़ा विवेकशील ही होता है । (कुशलानुशिष्टः) विवेकी पुरुष से उपदेश पाया हुवा (ज्ञाता) जानने वाला (आश्चर्यः) कोई ही होता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—आत्मज्ञान की दुरूहता कहते हैं । जो परमात्मा बहुत से सांसारिक कामों में आसक्त पुरुषों को सुनने के लिये भी नहीं मिलता और बहुत से अनधिकारी सुनते हुवे भी जिस को नहीं जान सकते अतएव उस का प्रवचन करने वाला कोई बिरला ही होता है श्रोताओं में भी उस का यथार्थरूप से समझने वाला कोई विवेकी ही पुरुष (जो संस्कृतात्मा और परमार्थ के साधनों से सम्पन्न है) मिल सकता है ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अवरेण) साधारण (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया हुवा (बहुधा) अनेक प्रकार से (चिन्त्यमानः) विचार किया हुवा भी (एषः) यह आत्मा (सुविज्ञेयः, न) सम्यक् जानने के योग्य नहीं है (अनन्यप्रोक्ते) जो अनन्यभाव से परमात्मा की उपासना करते हैं ऐसे तन्मय और तत्परायण आचार्यों के उपदेश किये हुवे (अत्र) इस आत्मा में

(गतिः) विकल्प वा सन्देह (नास्ति) नहीं है। वह ब्रह्म (अणुप्रमाणात्) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अतिसूक्ष्म है (हि) इसी लिये (अतर्क्यम्) तर्क करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस श्लोक से भी उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है। जिन की बुद्धि प्राकृत पदार्थों में रमण करती है ऐसे साधारण पुरुषों के बारंबार उपदेश करने से भी वह ब्रह्म भुव्यक् नहीं जाना जाता किन्तु जो अनन्यभाव से तन्मय और तत्परायण हो कर उसकी उपासना में रत हैं ऐसे आचार्यों के उपदेश से ही असन्दिग्ध रीति पर वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अप्रतर्क्य ब्रह्म जाना जाता है॥८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञा नाय प्रेष्ठ! । यान्त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

पदार्थः—हे (प्रेष्ठ!) प्रियतम! (एषा) यह आगम प्रसूता (मतिः) बुद्धि (तर्केण) स्वबुद्धिकल्पित हेतुओं से (न, आपनेया) नहीं बिगाड़नी चाहिये (अन्येन, एव) शास्त्रवित् आचार्य से ही (प्रोक्ता) उपदेश की हुई उक्त बुद्धि (सुज्ञानाय) सम्यक्ज्ञान के लिये होती है (सत्यधृतिः) तू निश्चल धैर्य वाला (असि) है (त्वम्) तू (याम्) जिस बुद्धि को (आपः) प्राप्त हुआ है (बत) [अनुकम्पा सूचक अव्यय है] हे (नचिकेतः!) नचिकेता! (त्वादृक्) तेरे समान ही (नः) हमसे (प्रष्टा) पूछने वाला (भूयात्) हो ॥ ९ ॥

भावार्थः—यद्यपि धर्मादि विषयों के निर्णय में मन्वादि महर्षियों ने तर्क का उपयोग माना है यथा "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" अर्थात् जो तर्क से अनुसन्धान करता है वह धर्म को जान सकता है इतर नहीं इत्यादि। तथापि आत्मज्ञान के विषय में (जो निश्चयात्मिका बुद्धि की अपेक्षा रखता है) तर्क से कुछ काम नहीं चलता क्योंकि जहां सन्देह होता है वहीं तर्क की प्रवृत्ति होती है। आत्मतत्व के जानने पर सारे सन्देह और विकल्प शान्त हो जाते हैं फिर भला वहां तर्क का प्रवेश क्योंकर हो सकता है ? इस बात को हृदय में रख कर मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे प्रियतम ! यह शास्त्रवित् आचार्यों के उपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि जिस को तू प्राप्त हुआ है केवल तर्क के आधार पर न लगानी चाहिये किन्तु आगम पर श्रद्धा रखते हुवे श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये ॥ ९ ॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (शेवधिः) कर्मफल जन्य स्वर्गादि (अनित्यम्) अनित्य है (इति) ऐसा (जानामि) जानता हूं (हि) निस्सन्देह (अध्रुवैः) अनित्य और अस्थिर साधनों से (तत्) वह (ध्रुवम्) नित्य और अचल ब्रह्म (न, प्राप्यते) नहीं पाया जाता (ततः) इसी

लिये (मया) मैंने (नाचिकेतः) जिस का अभी तुम्हारे प्रति विधान किया है वह (अग्निः) अग्नि (चितः) कर्मफलवासना से रहित होकर चयन किया है । अतः (अनित्यैः द्रव्यैः) अनित्य पदार्थों से (नित्यम्) नित्य ब्रह्म को (प्राप्तवान्, अस्मि) परम्परा से प्राप्त हुआ हूं ॥१०॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि यद्यपि यह मैं जानता हूं कि सकाम कर्म से स्वर्गादि अनित्य पदार्थों की प्राप्ति होती है परन्तु इन अनित्य साधनों से वह नित्य ब्रह्म अप्राप्य है, इसी लिये मैंने कर्म फल की वासना को त्यागकर यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया है जो साक्षात् नहीं तो परम्परा से मेरे मोक्ष का कारण हुये हैं । इस श्लोक का तात्पर्य्य यह है कि जो कर्म फल की वासना से किये जाते हैं वही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं केवल निष्काम कर्म करने से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

सरलार्थः—हे (नचिकेतः) नचिकेता ! तैने (कामस्य) भोगादि कामनाओं की (आप्तिम्) प्राप्ति को, (जगतः) संसार की (प्रतिष्ठाम्) जो संभोगादि रूप से स्थिति को, (क्रतोः) यज्ञादि के (अनन्त्यम्) अखण्ड राज्यादि फल को, (अभयस्य) सांसारिक निर्भयता की (पारम्) पराकाष्ठा को, (उरुगायम्) बहुधा मनुष्य जिस का गान करते हैं ऐसे (स्तोम

गहत्) स्तुतिसमूह और (प्रतिष्ठाम्) प्रशंसा को (दृष्ट्वा) ज्ञान चक्षु से इन सब को असार देख कर (धृत्या) धैर्य से (अत्यस्राक्षीः) त्याग दिया अतएव (धीरः) तू बड़ा बुद्धिमान् है ॥ ११ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेता! तुझ को संसार की बड़ी से बड़ी कामनायें भी न लुभा सकीं। अतएव तू धीर है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है ॥ ११ ॥

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठम्पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

सरलार्थः—(धीरः) विद्वान् (अध्यात्म योगाधिगमेन) बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति को हटा कर आत्मा में लगाने से (तम्) उस (दुर्दर्शम्) दुःख से जानने योग्य (गूढम्) अतीन्द्रिय होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण और जीवात्मा में भी व्याप्त (गुहाहितम्) बुद्धि में स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गम होने से विषमस्थ (पुराणम्) सनातन (देवम्) प्रकाशमय आत्मा को (मत्वा) जान कर (हर्षशोकौ) सुख दुःख को (जहाति) त्याग देता है ॥ १२ ॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्व का उपदेश करता है कि वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होने से दुर्दर्श है, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। यहां तक कि अप्राप्त देश में पहुंचने वाला मन भी वहां तक जाने

में थक जाता है। वह केवल धारणावती बुद्धि में स्थित होने से (जो विना अध्यात्म योग के अप्राप्य है) विपश्चित् कहलाता है। उस को योगीजन अध्यात्मयोग से (जो बाह्य विषयों से चित्त को हटाकर अन्तरात्मा में लीन करने से सिद्ध होता है, प्राप्त होकर हर्ष शोक को त्याग देते हैं ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसम्मन्ये ॥ १३ ॥

सरलार्थः—(मर्त्यः) मनुष्य (एतत्) इस वक्ष्यमाण (धर्म्यम्) धर्म के अधिकरण आत्मा को (श्रुत्वा) सुनकर तथा (सम्परिगृह्य) अच्छे प्रकार ग्रहण करके एवं (प्रवृह्य) बारम्बार अभ्यास करके (एतम्) इस (अणुम्) सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह (मोदनीयम्) आनन्द रूप को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (मोदते) आनन्दित होता है। ऐसे ब्रह्मको (नचिकेतसम्) तुझ नचिकेता के प्रति (विवृतम्, सद्म) खुला है द्वार जिस का ऐसे स्थान के सदृश (मन्ये) मानता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः—मृत्यु कहता है—हे नचिकेता! इस ब्रह्म को श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जो मनुष्य ग्रहण करते हैं वह आनन्दमयपद को प्राप्त होकर सब बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाते हैं; तेरे लिये भी इस गुप्त मन्दिर में (जिस का पता लगना बड़ा कठिन है) प्रवेश करने के लिये द्वार खुला हुआ है ॥ १३ ॥

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४॥

सरलार्थः—(धर्मात्) कर्तव्यरूप आचरण से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्तव्य से (अन्यत्र) अलग (अस्मात्) इस (कृताकृतात्) कार्य्य और कारण से (अन्यत्र) भिन्न (भूतात्) भूत काल से (भव्यात्) भविष्यत् से (च) वर्त्तमान से भी (अन्यत्र) अतिरिक्त (यत्) जिस को (पश्यसि) देखते हो (तत्) उस को (वद) कहो ॥१४॥

भावार्थः—नचिकेता प्रश्न करता है। हे मृत्यु ! जो पदार्थ धर्म और अधर्म और उन के शुभाऽशुभ फल से रहित एवं कार्य्य, कारण और उन के उत्पत्ति और विनाश धर्म से भिन्न तथा भूत, भविष्यत, वर्त्तमान इन तीनों कालों के बन्धन से पृथक् है उस का मेरे प्रति उपदेश कर ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदꣳ सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सरलार्थः—(सर्वे, वेदाः) चारों वेद (यत्, पदम्) जिस पद का (आमनन्ति) वारंवार वर्णन करते हैं (सर्वाणि,तपांसि, च) सारे तप और नियमादि भी (यत) जिस पद का (वदन्ति) कथन करते हैं (यत) जिस पद की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुवे (ब्रह्मचर्यम्)

ब्रह्मचर्याश्रम का (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्, पदम्) उस पद को (ते) तेरे लिये (संग्रहेण) संक्षेप से (ओम्, इति, एतत्) "ओम्" है यह (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः—अब मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्त्व का उपदेश करता है, कि हे नचिकेता ! चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य जिस पद की प्राप्ति करने का है। अर्थात् उक्त वेद कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से जिस पद का चिन्तन करते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा अन्य धर्मानुष्ठान भी जिस पद की प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं, उस पद का वाचक अनन्यरूप से केवल "ओम्" यह शब्द है, जिस का मैं तेरे प्रति उपदेश करता हूं ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

सरलार्थः—(एतत्, हि, एव) यह ओ३म् ही (अक्षरम्) नाश न होने वाला (ब्रह्म) ब्रह्म है (एतत्, एव) यह ही (परम्) सब से उत्तम (अक्षरम्) अक्षर है (एतत्, हि, एव) इस ही (अक्षरम्) अक्षर को (ज्ञात्वा) जानकर (यः) जो (यत्) जिस अर्थ को (इच्छति) चाहता है। (तस्य, तत्) उस को वह अर्थ अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थः—वाच्य और वाचक की अभिन्नता कहते हैं। वाचक ही से वाच्य का निर्देश किया जाता है। संसार

में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस का कोई वाचक न हो। परमात्मा के वाचक यद्यपि अग्नि आदि और भी अनेक शब्द हैं तथापि वे अन्य पदार्थों के भी वाचक हैं। केवल यही एक शब्द है जो अनन्यभाव से उस की सत्ता का बोध कराता है और किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं। इसी लिये वाच्य ब्रह्म से इस की अभिन्नता प्रतिपादन की गई है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

सरलार्थः-(एतत्) यह (आलम्बनम्) साधन (श्रेष्ठम्) प्रशस्त है (एतत्) यह (आलम्बनम्) आश्रय (परम्) सर्वोपरि है (एतत्) इस (आलम्बनम्) आलम्बन को (ज्ञात्वा) जान कर (ब्रह्मलोके) ब्रह्मानन्द में (महीयते) आनन्द करता है ॥ १७ ॥

भावार्थः-फिर उसी के माहात्म्य को कहते हैं। ब्रह्मज्ञान के साधनों में " ओ३म् " की उपासना करना सर्वोत्तम है। अर्थात् इसी परमोत्तम साधन से वाच्य ब्रह्म की उपासना करना ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता है॥१७॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुत-
श्चिन्न बभूव कश्चित्।अजोनित्यः शाश्वतो-
ऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

सरलार्थः-(विपश्चित्) सर्वज्ञ (अयम्) यह आत्मा

(न, जायते, वा, म्रियते) न उत्पन्न होता और न मरता है (कुतश्चित्) किसी उपादान से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं हुवा (कश्चित्) कोई इस से भी उत्पन्न नहीं हुवा (अयम्) यह आत्मा (अजः) जन्म नहीं लेता (नित्यः) विकाररहित (शाश्वतः) अनादि (पुराणः) सनातन है (शरीरे) देह के (हन्यमाने) नाश होने पर (न, हन्यते) नहीं नष्ट होता ॥ १८ ॥

भावार्थः—अब उस "ओ३म्" के वाच्य का निरूपण करते हैं-यह आत्मा जन्म मरण से रहित है। उस का कोई उपादान नहीं (जिस से वह उत्पन्न हुवा हो) और न वह किसी का उपादान है (जिस से कोई उत्पन्न हो) वह अजन्मा, निर्विकार, सनातन और अनादि होने से सदा एक रस रहता है । जिस प्रकार घट मठादि के टूटने फूटने पर आकाश में कोई विकार नहीं आता इसी प्रकार शरीरों के विनाश होने पर आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता ॥ १८ ॥

हन्ताचेन्मन्यते हन्तुᳬ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौनविजानीतोनायᳬहन्ति नहन्यते॥१९॥

सरलार्थः-(चेत्) यदि (हन्तुम्) मारने को (हन्ता) मारने वाला (मन्यते) मानता है तथा (चेत्) यदि (हतः) मारा हुवा (हतम्) आत्मा को मरा हुआ (मन्यते) मानता है (तौ, उभौ) वे दोनों (न, विजानीतः) कुछ नहीं जानते (अयम्)

यह आत्मा (न, हन्ति) किसी को नहीं मारता (न, हन्यते) और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः—मारने वाला यदि यह समझता है कि मैं आत्मा को मार सकता हूं और मारा हुवा यह जानता है कि आत्मा मारा गया। यह दोनों कुछ नहीं जानते क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुःप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

पदार्थः—(आत्मा) ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म जीवात्मा से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है (महतः) बड़े आकाशादि से भी (महीयान्) बड़ा है यह (अस्य, जन्तोः) इस प्राणी की (गुहायाम्) बुद्धि में (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः) आत्मा की (महिमानम्) महिमा को (धातुःप्रसादात्) बुद्धि के विमल होने से (अक्रतुः) कामना रहित (वीतशोकः) विगतशोक प्राणी (पश्यति) देखता है ॥ २० ॥

भावार्थः—जो आत्मा व्यापक होनेसे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनन्त होने से बड़े से भी बड़ा है वह मनुष्य की धारणावती बुद्धि में स्थित है। जिन की बुद्धि बाह्य विषयों से उपरन्त होकर विमल होगई है ऐसे काम, शोक से

विवर्जित विरक्त जन ही उस की महिमा को सर्वत्र देखते हैं ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदन्देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

सरलार्थः—(आसीनः) बैठा हुआ (दूरम्) दूर (व्रजति) पहुंचता है (शयानः) सोता हुआ (सर्वतः) सब ओर (याति) जाता है (तं) उस (मदामदम्, देवम्) आनन्दरूप देव को (मदन्यः) मुझ से सिवाय (कः) कौन (ज्ञातुं) जानने को (अर्हति) योग्य है ॥ २१ ॥

भावार्थः—"आसीन" शब्द से अचल और "शयान" से व्यापक लिया जाता है । हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे कि अचल का दूर पहुंचना और व्यापक का सब ओर जाना कैसे होसकता है ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वरूप से अचल और व्यापक है तथापि व्याप्य पदार्थों में गत्यादि क्रियाओं के होने से ब्रह्म में भी उन का अध्यास किया जाता है क्योंकि बिना ब्रह्म की सत्ता के किसी पदार्थ में भी गति और चेष्टा आदि क्रियायें नहीं रह सकतीं एतदर्थ व्याप्य के धर्मों का व्यापक में आरोप करके वर्णन किया जाता है और ऐसा किये बिना उस अचल और अखण्ड ब्रह्म को हम समझ नहीं सकते ॥ मृत्यु नचिकेता की श्रद्धा बढ़ाने के लिये कहता है कि मेरे सिवाय उस सांसारिक विनश्वर सुख से रहित और पारमार्थिक नित्यानन्द से पूरित ब्रह्म को और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

सरलार्थः—(शरीरेषु) विनाश धर्म वाले पदार्थों में (अशरीरम्) विनाशरहित (अनवस्थेषु) चलायमान पदार्थों में (अवस्थितम्) अचल (महान्तम्) अनन्त (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जान कर (धीरः) धीर पुरुष (न शोचति) शोक नहीं करता ॥२२॥

भावार्थः—उक्तार्थ को इस श्लोक में स्पष्ट करते हैं। यद्यपि परमात्मा अनित्य, चलायमान और विनाशशील पदार्थों में व्यापक होने से उन में अवस्थित है तथापि स्वयम् नित्य, अचल और अविनाशी होने से उनके धर्म में लिप्त नहीं होता। उस सब में और सब से अलग आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर धीर पुरुष शोक से मुक्त होता है ॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥ २३ ॥

सरलार्थः— (अयम्) यह (आत्मा) ब्रह्म (प्रवचनेन) उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता, (मेधया) बुद्धि से (न) नहीं मिलता (बहुना, श्रुतेन) बहुत सुनने से भी (न) नहीं जाना जाता (एषः) जीवात्मा (यम्, एव) जिस आत्मा को ही (वृणुते)

स्वीकार करता है (तेन) उस से (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (एषः, आत्मा) यह आत्मा (तस्य) उस के लिये (स्वाम्, तनूम्) अपने यथार्थरूप को (वृणुते) प्रकाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थः–श्रवण, मनन और प्रवचन आदि यद्यपि परम्परा से तो ब्रह्मप्राप्ति के साधन माने ही जाते हैं। परन्तु साक्षात् इस से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती जब साधक वा जिज्ञासु अनन्य भाव से आत्मा की ओर झुकता है अर्थात् तन्मय और तत्प्रवण हो जाता है। तब इस को आत्मतत्व का बोध होता है और वह आत्मा इस के लिये अपने यथार्थ पारमार्थिक रूप को प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।२४।

सरलार्थः–(दुश्चरितात्) अपकर्मों से (न, अविरतः) जो उपरत नहीं हुआ वह (एनं) इस आत्मा को (न) नहीं प्राप्त होता (अशान्तः) चञ्चलचित्त भी (न) नहीं पाता (असमाहितः) संशयात्मा भी (न) नहीं पाता (वा) और (अशान्तमानसः, अपि) जिस ने बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में जाने से रोक लिया है परन्तु मन जिस का तृष्णा में फंसा हुवा है वह भी (न) नहीं प्राप्त होता केवल (प्रज्ञानेन) यथार्थ ज्ञान से (आप्नुयात्) ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य हिंसा, स्तेय, अनृत आदि प्रतिषिद्ध कर्मों से उपरत नहीं हुआ वह आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं है। उक्त अविहित कर्मों से पृथक् हो कर भी जिस का चित्त शान्त नहीं हुआ है अर्थात् संशय और विकल्प की तरङ्गों में घूम रहा है वह भी उस का अधिकारी नहीं। लब्ध शान्ति होकर अर्थात् बाह्येन्द्रियों को विषयों से रोक कर भी जिस की वासनारूप तृष्णा नहीं बुझी वह भी आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता, किन्तु जो सारे अपकर्मों से उपरत होकर शान्तचित्त और समस्त विषय वासनाओं से वितृष्ण होकर आत्मपरायण होगया है वह केवल यथार्थ ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५॥

सरलार्थः—(यस्य) जिस ब्रह्म के (ब्रह्म) ब्राह्मण (च) और (क्षत्रम् च) क्षत्रिय भी (उभे) दोनों (ओदनम्) भक्ष्य (भवतः) होते हैं। (यस्य) जिसको (उपसेचनम्) उपसेचन (मृत्युः) मौत है (सः) वह परमात्मा (यत्र) जिस दशा में वा जैसा है (इत्था) इस प्रकार (कः वेद) कौन जान सकता है ? ॥ २५ ॥

भावार्थः—ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म यह दोनों ही जगत् की स्थिति के मुख्य कारण हैं " मुख्यगौणयोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः " इस के अनुसार वैश्य और शूद्र के धर्मों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है, अर्थात् प्रलय में

चारों वर्ण जिस का भक्ष्य हो जाते हैं। और मृत्यु भी जो इन सब को भक्ष्य बनाता है, स्वयं जिस का उपसेचन (भाज्य) बन जाता है, अर्थात् सृष्टि के अभाव में मृत्यु भी अनावश्यक हो जाने से जिस परमात्मा में लीन हो जाता है। उस अगाध ब्रह्म को वह ऐसा ही है इस प्रकार कौन जान सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं॥२५॥

इति द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥

अथ तृतीया वल्ली प्रारभ्यते ॥

ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

सरलार्थः--(परमे) सब से उत्तम (परार्द्धे) हृदयाकाश में तथा (गुहां) बुद्धि में (प्रविष्टौ) स्थित (लोके) शरीर में (स्वकृतस्य) अपने किये हुवे कर्मों के (ऋतम्) फल को (पिबन्तौ) भोगते हुवे (छायातपौ) अन्धकार और प्रकाश के तुल्य (ब्रह्मविदः) ब्रह्म के जानने वाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीन वार जिन्हों ने नाचिकेत अग्निका सेवन किया ऐसे कर्मकाण्डी (पञ्चाग्नयः) पञ्च यज्ञों के करने वाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः--इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा

दोनों का वर्णन है। मनुष्य के हृदयाकाश में छाया और आतप के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों निवास करते हैं एक इन में से अपने कर्म फल का भोक्ता और दूसरा भुगवाने वाला होने से दोनों का कर्म फल के साथ सम्बन्ध है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं कर्म या उस के फल में लिप्त नहीं होता, तथापि जीव को कर्म का फल भुगाता है। इस अपेक्षा को मान कर दोनों के लिये "पिबन्तौ" क्रिया रक्खी गई है। इस प्रकार शरीरों में दोनों आत्माओं की सत्ता केवल कर्मकाण्डी ही नहीं, किन्तु ज्ञानकाण्डी भी मानते हैं ॥१॥

यःसेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षताम्पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥२॥

पदार्थः—(यः) जो (ईजानानाम्) यज्ञशीलों का (सेतुः) पुल के समान है उस (नाचिकेतम्) नाचिकेत अग्नि को (शकेमहि) हम जान सकते हैं और (यत्) जो (पारम्) भवसिन्धु के पार (तितीर्षताम्) तरने की इच्छा करने वालों का (अभयम्) भयरहित साधन है उस (परम्) सब से उत्कृष्ट (अक्षरम्) नाशरहित (ब्रह्म) परमात्मा को भी (शकेमहि) जान सकते हैं ॥२॥

भावार्थः—इस कर्मनासा (नदी से जिस में सांसारिक लोग मज्जित होते हैं, तरने के दो मार्ग हैं। पहला यज्ञादि कर्मकाण्ड है, जो पुल के समान हमें इस नदी

के पार ले जाकर विज्ञान के तट पर बिठा देता है। दूसरा ज्ञानकाण्ड है जो हमें उस भवसागर के पार पहुंचाता है (कि जिस में यह कर्मनाशा नदी सहस्रधारा होकर मिलती है) जो लोग कर्मकाण्ड की उपेक्षा वा निन्दा करके ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बनना चाहते हैं वह आंख खोल कर ज़रा इस श्लोक के आशय पर ध्यान देवें ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांऽस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

सरलार्थः—(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनम्) रथी (विद्धि) जान (तु) और (शरीरम्, एव) शरीर को ही (रथम्) रथ जान (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धि को (सारथिम्) सारथि (विद्धि) जान (च) और (मनः, एव) मन को ही (प्रग्रहम्) रश्मि जान ॥ ३ ॥ (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (हयान्) घोड़े (आहुः) कहते हैं (तेषु) उन इन्द्रियों में (विषयान्) शब्द स्पर्शादि को (गोचरान्) मार्ग कहते हैं (मनीषिणः) पण्डित लोग (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता) भोगने वाला (इति, आहुः) ऐसा कहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः—इन श्लोकों में रथ के अलङ्कार से शरीर का वर्णन किया गया है। जैसे वह रथी जिस का रथ दृढ़, सारथि चतुर, लगाम मज़बूत और खिंची हुई, घोड़े सीखे हुवे और सड़क साफ़ और संवारी हुई है। निश्शङ्क अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुंच जाता है। ऐसे ही वह आत्मा जिस का शरीर आरोग्य, बुद्धि शुद्ध, मन अक्षुब्ध, इन्द्रियगण वश्य और उन के शब्दादि अर्थ अक्षुण्ण हैं निर्भयता के साथ अपने प्राप्तव्य पद को पहुंचता है ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

सरलार्थः—(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विषयों में लम्पट मनुष्य (अयुक्तेन, मनसा) अनवस्थित मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां (सारथेः) सारथि के (दुष्टाश्वा इव) दुष्ट घोड़ों के समान (अवश्यानि) वश में नहीं होते ॥ ५ ॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेक सम्पन्न (युक्तेन, मनसा) समाहित मन से (सदा) सर्वदा युक्त (भवति) होता है (तस्य) उस के (इन्द्रियाणि) चक्षुरादि (सारथेः) सारथि के (सदश्वा इव) शिक्षित घोड़े के समान (वश्यानि) वश में होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः-जिस मनुष्य की चित्तवृत्ति विषयों से नहीं हटी हैं और जिस का मन अभी अनवस्थित दशा में है उस के इन्द्रिय दुष्ट घोड़ों के समान उसे विषयों की खाई में डाल देते हैं ॥ ५ ॥ और जो मनुष्य विवेक के शस्त्र से विषय के जाल को छिन्न भिन्न कर देता है। एवं जिस का मन सब ओर से हट कर परमार्थ में युक्त हो गया है, उस के इन्द्रिय शिक्षित घोड़े के समान उसे अपने निर्दिष्ट स्थान पर ले जाते हैं ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥७॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

सरलार्थः-(यः, तु) जो (अविज्ञानवान्) विवेक रहित (अमनस्कः) मन के पीछे चलने वाला (सदा) सर्वदा (अशुचिः) अपवित्र (भवति) होता है (सः) वह (तत्, पदम्) उस शान्त पद को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त होता (च) किन्तु (संसारम्) जन्म मरण के प्रवाह को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥७॥ (यः, तु) और जो (विज्ञानवान्) विवेकसम्पन्न (समनस्कः) मन को जीतने वाला (सदा) निरन्तर (शुचिः) शुद्ध भावयुक्त (भवति) होता है (सः, तु) वह तो (तत्,

पदम्) उस आनन्द पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है (यस्मात्) जिस से (भूयः) फिर (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्य का मन वश में नहीं है और संस्कार तथा संसर्ग के दोषों से जिस के भाव भी मलिन हो रहे हैं । ऐसा विवेकशून्य पुरुष उस परमपद को नहीं पासकता किन्तु इस संसार में ही जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है ॥ ७ ॥ इस के विपरीत जो मनुष्य इस चञ्चल मन को वश में करलेता है और जिस के संस्कार तथा भाव भी शुद्ध होगये हैं । ऐसा विवेकी पुरुष उस आनन्द पद को प्राप्त होता है जिस से फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

सरलार्थः—(यः, तु) जो (नरः) मनुष्य (विज्ञानसारथिः) विवेक सारथि वाला एवम् (मनः प्रग्रहवान्) मन की लगाम को रोकने वाला है (सः) वह (अध्वनः) मार्ग के (पारम्) पार (विष्णोः) व्यापक ब्रह्म के (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (तत्, पदम्) उस पद को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—जिस मनुष्यने विवेक को अपना सारथि

बना कर मन की लगाम को मज़बूत पकड़ा हुआ है। वह उस विष्णु के परम पद को (जहां उस की यात्रा समाप्त हो जाती है) प्राप्त होता है ॥ ९॥

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥
महतःपरमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥११॥

पदार्थः-(इन्द्रियेभ्यः) भौतिक इन्द्रियों से (हि) निश्चय (अर्थाः) शब्दादि विषय (पराः) सूक्ष्म हैं (च) और (अर्थेभ्यः) विषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) तथा (मनसः) मन से (बुद्धिः) बुद्धि (परा) सूक्ष्म है (बुद्धेः) बुद्धि से (महान्, आत्मा) महत्तत्व (परः) सूक्ष्म है ॥ १० ॥ (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) अव्याकृत प्रकृति (परम्) सूक्ष्म है (अव्यक्तात्) अव्यक्त प्रकृति से (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्, न) कुछ भी नहीं है (सा) वही (काष्ठा) स्थिति की सीमा (सा) वही (परागतिः) अन्तिम अवधि है ॥११॥

भावार्थः-इन दोनों श्लोकों में परमात्मा का सब से सूक्ष्म होना दिखलाया गया है। चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा

उन के रूपादि विषय कुछ सूक्ष्म हैं । विषयों की अपेक्षा मन कुछ सूक्ष्म है और मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि से उस का कारण महत्तत्व और महत्तत्व से भी उस का कारण प्रकृति (जो अव्यक्त और प्रधानादि नामों से प्रख्यात है) सूक्ष्म है । उस प्रकृति से भी पुरुष (जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है) अत्यन्त सूक्ष्म है । पुरुष से परे वा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है, वही सारे जगत् की परमगति और अन्तिम सीमा है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

पदार्थः-(सर्वेषु, भूतेषु) सब पदार्थों में (एषः) यह (गूढात्मा) गुप्त आत्मा (न प्रकाशते) स्थूलदृष्टि से नहीं देखा जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया) तीव्र (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शियों से (दृश्यते)देखा जाता है ॥ १२ ॥

भावार्थः-जिस की वृत्ति बाह्य विषयों में लीन होने से फैली हुई है उस को वह अन्तरात्मा (जो गुप्तरूप से सब पदार्थों में ओत प्रोत होरहा है) नहीं दीखता किन्तु वह तो तत्त्वदर्शियों से उस सूक्ष्म बुद्धि द्वारा (जो मानसिक वृत्तियों के समाधान से प्राप्त होती है) जाना जाता है ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आ-

हमनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्त-
द्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

सरलार्थः—(प्राज्ञः) धीर पुरुष (मनसि) मन में (वाक्) वाणी को (यच्छेत्) सब ओर से हटा कर लगा देवे (तत्) उस मन को (ज्ञाने, आत्मनि) ज्ञान के उपकरण बुद्धि में (यच्छेत्) ठहरावे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति, आत्मनि) उस के कारण महत्तत्व में (नियच्छेत्) युक्त करे (तत्) उस महत्तत्व को (शान्ते, आत्मनि) प्रशान्त आत्मा में (यच्छेत्) ठहरा देवे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जिज्ञासु के लिये अध्यात्म योग का क्रम बतलाते हैं । पहिले वाणी को (जो बाह्य व्यापारों को उत्पन्न करती है) मन में रोके फिर मन को (जो भीतर ही भीतर बाह्य व्यापारों का चित्र खींचता रहता है) बुद्धि में ठहरावे। तत्पश्चात् बुद्धि को (जो बाह्य वस्तुओं का बोध कराती और उन में फंसाती है) महत्तत्व (अहङ्कार) में लीन करे और महत्तत्व को (जिस से रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं) उस आत्मा में (जहां सारे विकार और उपाधि शान्त होजाते हैं) युक्त कर देवे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथ-
स्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

सरलार्थः—(उत्तिष्ठत) उठो (जाग्रत) जागो (वरान्) श्रेष्ठ आचार्यों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (निबोधत) जानो—(निशिता) तीक्ष्ण (दुरत्यया) अति कठिन (क्षुरस्य,धारा) छुरे की धारा के समान (कवयः) कविलोग (तत्) उस (पथः) मार्ग को (दुर्गम्) दुःख से प्राप्त होने योग्य (वदन्ति) कहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये उठो ! जागो ! ! महात्मा आचार्यों के उपदेश से ज्ञान को बढ़ाओ । क्योंकि जैसे साण पर चढ़े हुवे छुरे की धार तीक्ष्ण और कठिन होती है ऐसे ही यह श्रेय मार्ग भी बड़ा दुर्गम और कठिन है । इस में कोई विरला ही मनुष्य (जो शम दमादि साधनों से युक्त है) चल सकता है ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

सरलार्थः—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्द नहीं जो कान से जाना जावे (अस्पर्शम्) स्पर्श नहीं जो त्वचा से ग्रहण किया जावे (अरूपम्) रूप नहीं जो चक्षु का विषय हो (तथा) वैसे ही (अरसम्) रस नहीं जो रसना का विषय हो (च) और (अगन्धवत्) गन्ध वाला नहीं जो घ्राणगम्य हो । अतएव यह (अव्ययम्) अविनाशी (नित्यम्) सदा एकरस (अनादि) अनुत्पन्न

(अनन्तम्) सीमारहित (महतः परम्) महत्तत्व से भी सूक्ष्म (ध्रुवम्) अचल है (तम्) उस को (निचाय्य) सम्यक् जानकर (मृत्युमुखात्) मौत के मुख से (प्रमुच्यते) छूट जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—जो ब्रह्म किसी इन्द्रिय का विषय न होने से अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तादि विशेषण युक्त है उस ही को जानकर मनुष्य मौत के मुख से छूटता है । वेद भगवान् भी कहते हैं "तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय„ अर्थात् केवल उस ही को जानकर मनुष्य मौत को जीत सकता है और कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(नाचिकेतम्) नचिकेता से ग्रहण किये गये (मृत्युप्रोक्तम्) मृत्यु से उपदेश किये गये (सनातनम्) प्राचीन (उपाख्यानम्) आख्यान को (उक्त्वा) कहकर (श्रुत्वा, च) सुनकर भी (मेधावी) विवेकी पुरुष (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के पद में (महीयते) बड़ाई को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थः—अब दो श्लोकों में उक्त उपाख्यान का फल वर्णन करते हैं । जो जिज्ञासु भक्ति और श्रद्धा के साथ इस उपाख्यान को (जो मृत्यु ने नचिकेता के प्रति उप-

देश किया है) सुनते और सुनाते हैं वे कालान्तर में ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बनकर. ब्रह्म के पद को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्. ब्रह्मसंसदि ॥
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (प्रयतः) सावधान हो कर (इमम्) इस (परमम्, गुह्यम्) परमगुप्त आख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्राह्मणों की सभा में (वा) या (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किये जाने वाले सत्कार्यों के अवसर पर (श्रावयेत्) सुनावै (तत्) वह (आनन्त्याय) अनन्त फल की प्राप्ति के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥

भावार्थः—जो पुरुष इस पवित्र उपाख्यान को ब्रह्मज्ञान के अधिकारियों की सभा वा श्राद्धादि सत्कर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर सुनते, सुनाते हैं, उन की आत्मा उत्तरोत्तर पवित्र संस्कारों से युक्त होता हुआ अनन्त फल की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है । द्विर्वचन वीप्सा और वल्ली की समाप्ति जताने के लिये है ॥ १७ ॥

इति तृतीया वल्ली समाप्ता ।

अथ चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगा-
त्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पदार्थः—(स्वयम्भूः) परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बाह्य विषयों पर गिरने वाला (व्यतृणत्) किया है (तस्मात्) इस कारण मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) देखता है (न, अन्तरात्मन्) अन्तरात्मा को नहीं, (कश्चित्) कोई (आवृत्तचक्षुः) ध्यानशील (धीरः) विवेकीपुरुष (अमृतत्वम्) मोक्ष को (इच्छन्) चाहता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) अन्तःकरणस्थ आत्मा को (ऐक्षत्) ध्यानयोग से देखता है ॥ १ ॥

भावार्थः—अब आत्मज्ञान के प्रतिबन्धों को कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों पर गिरने वाले हैं। इस लिये इन का अनुगामी पुरुष केवल बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर पुरुष ही जिस ने अपने इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा लिया है, मोक्ष की इच्छा करता हुआ ध्यानयोग से उस अन्तरात्मा को देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति
विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

पदार्थः—जो (बालाः) अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुवे (कामान्) विषयवासनाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं (ते) वे (विततस्य) फैले हुवे (मृत्योः) मृत्यु के (पाशम्) फांसे को (यन्ति) प्राप्त होते हैं, (अथ) और (धीराः) विवेकी पुरुष (ध्रुवम्) निश्चल (अमृतत्वम्) मोक्ष को (विदित्वा) जानकर (इह) यहां (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों में सुख को (न; प्रार्थयन्ते) नहीं चाहते ॥ २ ॥

भावार्थः—अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय और विषयों के संयोग होने पर वासना रूप रज्जु से आकर्षित हुवे उनपर टूट पड़ते हैं। परन्तु वे उस मृत्यु के पाश को जो इन विषयों के भीतर फैला हुवा है उन पक्षियों के समान जो दाने के लोभ से व्याध के जाल में गिर पड़ते हैं, नहीं देख सकते— परिणाम यह होता है कि वे मृत्यु-रूपव्याध के खाद्य(शिकार) बनते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष जो ज्ञानदृष्टि से इन के परिणाम को देखते हैं, वह संसार के इन अनित्य पदार्थों में (जिन में सुख का आभास मात्र है, वास्तविक सुख नहीं) जी नहीं लगाते। किन्तु उस अनामय पद की प्राप्ति के लिये जहां न शोक है न मोह, न भय है न दुःख, सर्वदा यत्न करते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

सरलार्थः-(येन) जिस (एतेन, एव) इसही आत्मा की सत्ता से प्राणी (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (स्पर्शान्) स्पर्श (च) और (मैथुनान्) रति-जन्य सुखों को भी (विजानाति) जानता है, तब (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रहजाता है ? (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

भावार्थः-इन्द्रियां ज्ञानोपलब्धि में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु जिस की सत्ता या शक्ति से वह अपने नियत अर्थों को ग्रहण करती हैं वही ब्रह्म है । जब सारे प्रत्ययों का निमित्त वही है तब उस के ज्ञान होनेपर क्या शेष रह-जाता है ? कुछ भी नहीं । यदि कहो कि उक्त प्रत्ययों का निमित्त देहाभिमानी आत्मा है नकि परमात्मा ? तो इस का उत्तर यह है कि देहाभिमानी आत्मा भी उस आत्म-शक्ति के आश्रित होने से (जो चराऽचर पदार्थों में व्याप्त हुई सब को नियमपूर्वक चलारही है) उक्त प्रत्ययों का स्वतन्त्र कारण नहीं है क्योंकि स्वतन्त्र या अनपेक्ष कारण तो वही हो सकता है जो किसी की अपेक्षा नहीं रख-ता । सो ऐसा केवल ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥

सरलार्थः-(येन) जिस से (स्वप्नान्तम्) स्वप्नावस्था के अन्त (च) और (जागरितान्तम्) जाग्रत्अ-

वस्था के अन्त (उभौ) इन दोनों को (अनुपश्यति) अनुकूल देखता है। उस (महान्तम्) बड़े से बड़े (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) आत्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील (न, शोचति) शोक से व्याकुल नहीं होता ॥ ४ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। संसार के समस्त व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् अवस्था के भीतर ही होते हैं, मनुष्य जाग्रत् के व्यवहारों को स्वप्न में मानसिक रचना करता है और स्वाप्न अर्थों की जाग्रत् में समालोचना करता है। सब इन्हीं के चक्र में पड़ा हुआ ठोकरें खाता है और कहीं शान्ति नहीं पाता। यह दोनों अवस्थायें जो मनुष्य को रातदिन भय और संशय के आवर्त में घुमा रही हैं केवल परमात्मा की दया से ही शान्त और अनुकूल हो सकती हैं अर्थात् आत्मरत पुरुष प्रतिदिन इन अवस्थाओं में प्रवेश करता हुआ भी संसार के व्यवहारों में लिप्त नहीं होता। किन्तु वह सदा इन को ब्रह्म के साथ और ब्रह्म को इन के साथ देखता हुआ शोक से मुक्त होता है ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

पदार्थः-(यः) जो पुरुष (इमम्) इस (मध्वदम्) कर्मफल भोगने वाले (जीवम्) जीवात्मा के (अन्तिकात्) समीपवर्ती (भूतभव्यस्य) हुवे और होने वाले जगत् के (ईशानम्) स्वामी (आत्मानम्) परमात्मा को (वेद) जानता है (ततः) उस से (न, विजुगुप्सते) भय को प्राप्त नहीं होता (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मज्ञान का फल है ॥ ५ ॥

भावार्थः-जो जन इस कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा के समीप ही विद्यमान अर्थात् उस में अनुप्रविष्ट हुवे उस चराचर और भूत भव्य जगत् के अधिष्ठाता परमात्मा को जानते हैं उन को फिर किस का और क्या भय हो-सकता है ? कुछ भी नहीं ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।
एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

पदार्थः-(यः) जो जीवात्मा (अद्भ्यः) पञ्चभूतों से (पूर्वम्) पहले (अजायत) प्रकट हुआ (तपसः) ज्ञान वा प्रकाश से भी (पूर्वम्) पहले (जातम्) वर्त्तमान (गुहाम्) बुद्धि में (प्रविश्य) प्रवेश कर (भूतेभिः) कार्यकारण के साथ (तिष्ठन्तम्) स्थित परमात्मा को (व्यपश्यत) देखता है (एतत्,वै,तत्) यही वह ब्रह्म है॥

भावार्थः–पञ्चभूतों की उत्पत्ति से पहले ज्ञान, या प्रकाश या वह ज्ञान और प्रकाशभी जिस से प्रकट होता है, जो कार्य और कारण दोनों में व्याप्त होकर बुद्धि में स्थित है अर्थात् बुद्धि ही जिस को जान सकती है वही ब्रह्म है ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

सरलार्थः–(या) जो (देवतामयी) प्रकाशयुक्त (अदितिः) अखण्डित अर्थात् भ्रम और सन्देह रहित बुद्धि (प्राणेन) प्राणके संयम से (सम्भवति) उत्पन्न होती है और (या) जो (तिष्ठन्तीम्) ठहरे हुवे (गुहां) अन्तःकरण में (प्रविश्य) प्रवेशकर (भूतेभिः) शरीरादि के साथ (व्यजायत) प्रकट होती है । (एतद्वैतत्)यही ब्रह्मज्ञान का साधन है ॥ ७ ॥

भावार्थः–जो बुद्धि यम नियमादि के सेवन से शुद्ध और भ्रमरहित एवं प्राण के संयम से विकाशित होती है और जो अन्तःकरण में प्रविष्ट हुवे शरीरादि के साथ प्रकट होती है उस के द्वारा ही योगी लोग उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो

गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हवि-
ष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

सरलार्थः-(जागृवद्भिः) ज्ञानियों से (हविष्मद्भिः मनुष्येभिः) कर्मकाण्डी मनुष्यों से भी (अग्निः) परमात्मा (गर्भिणीभिः) गर्भिणी स्त्रियों से (सुभृतः) अच्छे प्रकार धारण किये हुये (गर्भ इव) गर्भ के समान तथा (अरण्योः) दोनों अरणियों में (निहितः) व्याप्त (जातवेदा, इव) भौतिक अग्नि के समान (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) उपासना करने के योग्य है (एतत्, वै, तत्) वही ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः-जैसे अग्नि दोनों काष्ठों में व्यापक है परन्तु विना संघर्षण के उत्पन्न नहीं होता एवं गर्भिणी की कुक्षि में गर्भ विद्यमान है परन्तु विना यथोचित आहार-व्यवहार के वह सुरक्षित नहीं रहसकता इसी प्रकार परमात्मा भी यद्यपि सर्वत्र व्यापक है तथापि जो अपने हृदय मन्दिर में प्रति दिन और प्रतिक्षण उस की उपासना नहीं करते उन को वह अप्राप्य है । तात्पर्य यह है कि जैसे गर्भिणी का ध्यान प्रतिक्षण गर्भ में ही लगा रहता है इसी प्रकार मुमुक्षु जनों को ब्रह्मपरायण होना चाहिये॥८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं
देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ।एत-
द्वै तत् ॥ ९ ॥

सरलार्थः-(यतः) जहां से (सूर्यः) सूर्य (उदेति)

उदय होता है (च) और (यत्र,च) जिस में ही (अस्तं) लीन (गच्छति) हो जाता है। (तम्) उस परमात्मा को (सर्वे, देवाः) सारे देवता (अर्पिताः) प्राप्त हैं (तत्, उ) उस ब्रह्म का (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ९ ॥

भावार्थः—सब देवताओं में बड़ा और प्रधान होने से सूर्य यहां पर उपलक्षण माना गया है। अर्थात् जिस के सामर्थ्य से सूर्य उत्पन्न होता और उस में ही विलीन भी होजाता है। अन्य भी वायु आदि सारे देवता रथनाभि में अराओं की भान्ति जिस में अर्पित हैं अर्थात् उसी की दी हुई शक्ति से अपनी २ परिधि में काम करते हैं वही ब्रह्म है और उस का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता ॥९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥१०॥

सरलार्थः—(यत्) जो ब्रह्म (इह) इस जन्म में हमारे कर्मों का व्यवस्थापक है (तत्,एव) वह ही (अमुत्र) पर जन्म में भी हमारा नियन्ता है और (यत्) जो (अमुत्र) पर जन्म में हमारा ईशिता है (तत्) वह (अनु, इह) यहां पर भी अध्यक्ष है। (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म में (नाना, इव) भिन्न भाव की सी (पश्यति) दृष्टि करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (आप्नोति) पाता है ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे योनिभेद अथवा अवस्थाभेद से जीव के गुण,कर्म,स्वभाव बदल जाते हैं,ऐसे ब्रह्म के नहीं। वह तो सदा एकरस होने से जैसा अब है वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। जो उस एक और अद्वैत ब्रह्म में नानात्व की कल्पना करते हैं अर्थात् अनेक भाव और बुद्धि उस में रखते हैं वे बारम्बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति यइह नानेव पश्यति ११

सरलार्थः—(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा, एव) ज्ञान-पूता बुद्धि से ही (आप्तव्यम्) जानने योग्य है (इह) इस ब्रह्म में (नाना) भेद भाव (किञ्चन) कुछ भी (न, अस्ति) नहीं है (यः) जो भेदवादी (इह) इस ब्रह्म में (नाना इव) अनेकत्व की सी (पश्यति) कल्पना करता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को (गच्छति) जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं। जो ब्रह्म केवल ज्ञान से पवित्र की हुई बुद्धि से जाना जाता है उस में नानात्व बुद्धि होने से मनुष्य उस सेवक की भान्ति जिस के कई स्वामी हों भ्रान्ति में पड़ जाता है। इस लिये उस में नानात्व की कल्पना करने वाला अर्थात् उस में भिन्न २ बुद्धि रखने वाला कभी शान्ति को नहीं पाता ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।
एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(भूतभव्यस्य) भूत और भविष्यत् का (ईशानः) अध्यक्ष (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा (अङ्गुष्ठमात्रः) अंगूठे के बराबर हृदय पुण्डरीक में रहने वाला (आत्मनि) शरीर के (मध्ये) बीच में (तिष्ठति) रहता है (ततः) उस के ज्ञान से (न विजुगुप्सते) कोई ग्लानि को नहीं पाता (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है।१२।

भावार्थः—हृत्पुण्डरीक जो जीवात्मा का निवासस्थान है उस का परिमाण अङ्गुष्ठ के बराबर है। यद्यपि पुरुष होने से ब्रह्म उस में बद्ध नहीं होसकता क्योंकि वह एकरस होने से सर्वत्र परिपूर्ण है तथापि जीवात्मा के तादात्म्य सम्बन्ध से और उस ही देश में ध्यान योग द्वारा उस की प्राप्ति होने से शरीर के मध्य में उस की स्थिति कही गई है। इस से कोई उसे एकदेशीय न समझ बैठे क्योंकि सामान्य प्रकार से तो उस की सत्ता सभी पदार्थों में है। किन्तु हृत्पुण्डरीक में इस लिये कहा है कि वहां उस की प्राप्ति जीवात्मा को सहज है। बस जिस का जहां पर दर्शन होता है वहीं उस की स्थिति कही जाती है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

सरलार्थः-(अङ्गुष्ठमात्रः) वही अङ्गुष्ठ मात्र स्थानीय (पुरुषः) परिपूर्ण आत्मा (अधूमकः) धूमरहित (ज्योतिः, इव) ज्योति के समान (भूतभव्यस्य) अतीत और अनागत का (ईशानः) स्वामी है (सः एव) वह ही (अद्य) आज और (सः उ) वही (श्वः) कल है (एतत्, वै, तत्,) यही वह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

सरलार्थः-(यथा) जैसे (दुर्गे) विषम देश में (वृष्टम्) वर्षा हुआ (उदकम्) जल (पर्वतेषु) निम्नस्थलों में (विधावति) बहता है (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को गुणी से (पृथक्) अलग (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन्हीं गुणों का (अनुविधावति) अनुधावन करता है ॥ १४ ॥

भावार्थः-जैसे जल का स्वभाव नीचे बहने का है। ऐसे ही गुण अपने गुणी का अनुधावन करते हैं। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गुण सदा अपने गुणीमें रहते हैं। जो मनुष्य गुणों को गुणी से पृथक् जानता है अर्थात् गुण में ही द्रव्य बुद्धि रखता है वह आत्मतत्व को नहीं जान सकता, किन्तु उन गुणों में ही रमण करता है॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

पदार्थः—हे (गौतम) नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) स्वच्छ और सम देश में (शुद्धम्) स्वच्छ (उदकम्) जल (आसिक्तम्) सींचा हुवा (तादृग्, एव) वैसा ही (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) जानने वाले (मुनेः) मननशील का (आत्मा) आत्मा (भवति) होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम के पुत्र ! जैसे स्वच्छ और सम धरातल भूमि में सींचा हुआ जल तद्वत् हो जाता है, ऐसे ही विज्ञानी पुरुष का आत्मा सरल और समदर्शी हो जाता है अर्थात् जल में मलिनता और कुटिलता तभीतक है जबतक वह शुद्ध और समभूमि में प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जीवात्मा में भी मालिन्य और कौटिल्य तभीतक रहता है, जबतक वह उस शुद्ध और शान्त ब्रह्म का आश्रय नहीं लेता॥

इति चतुर्थी वल्ली समाप्ता ।



अथ पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

सरलार्थः—(अवक्रचेतसः) सरल चित्त वाले (अजस्य) अनुत्पन्न जीवात्मा के (एकादशद्वारम्) ग्यारह दरवाज़े वाले (पुरम्) शरीर को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न, शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुवा (विमुच्यते) छूटता है (एतत्, वै, तत्) यही उस विज्ञान का फल है ॥ १ ॥

भावार्थः—जो राजा अपने पुर के दरवाज़ों को (जिन में होकर नगर में प्रवेश किया जाता है) दृढ़ और सुरक्षित रखता है, उस को शत्रु का भय नहीं होता । इसी प्रकार जो मनुष्य इस ग्यारह दरवाज़े *वाले शरीर को वर्णाश्रम सम्बन्धी धर्म के पालन और अनुष्ठान से दृढ़ और पवित्र बना लेते हैं, वे तीनों ऋणों से §मुक्त होकर मोक्ष के अधिकारी बनते हैं ॥ १ ॥

हंसःशुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥ २ ॥

---

* शरीर के ग्यारह दरवाज़े ये हैं । दो आंख के, दो कान के, दो नाक के, एक मुंह का, एक पायु का, एक उपस्थ का, एक नाभि का और एक कपाल का ॥

§ तीन ऋण ये हैं १ देवऋण २ ऋषिऋण ३ पितृऋण ॥

सरलार्थः—(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला जीवात्मा (शुचिषद्) शुद्ध देश में स्थित (वसुः) अनेक योनियों में वास करने वाला (अन्तरिक्षसत्) हृदयाकाश में स्थित (होता) यज्ञादि का सेवन करने वाला (वेदिषत्) स्थलचारी (अतिथिः) अभ्यागत के समान एकत्र स्थिति न रखने वाला (दुरोणसत्) कुटीचर (नृषत्) मनुष्य शरीरधारी (वरसत्) देव और ऋषि शरीरधारी (ऋतसत्) ब्रह्म अथवा सत्य में प्रतिष्ठित (व्योमसत्) नभचारी (अब्जाः) जलचर (गोजाः) पृथिवी में उत्पन्न होने वाले वनस्पत्यादि (ऋतजाः) यज्ञिय ओषध्यादि (अद्रिजाः) पर्वतों में उत्पन्न होने वाला भी (ऋतम्, बृहत्) अपने स्वरूप से अविचल है ॥२॥

भावार्थः—जीवात्मा अपने कर्मानुसार अनेक गतियों को प्राप्त होता है, वही इस श्लोक में दिखलाई गई हैं। कहीं वह स्थलचर होकर पृथिवी में विचरता है और कहीं जलचर होकर जल में निवास करता है। एवं कहीं नभचर होकर आकाश में गमन करता है। कहीं वनस्पति और ओषध्यादि में जाकर प्रकट होता है और कहीं मनुष्य, देव, ऋषि आदि के शरीर में प्रविष्ट होकर जन्म लेता है। यद्यपि कर्मानुसार जीवात्मा अनेक योनियों को प्राप्त होता और भिन्न २ दशाओं का अनुभव करता है, तथापि अपने स्वरूप से नित्य और अपरिणामी है ॥२॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

सरलार्थः--जो साधक (प्राणम्) प्राण वायु को (ऊर्ध्वम्) हृदय से ऊपर मस्तक में (उन्नयति) ले जाता है (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) हृदय से नीचे उदर में (अस्यति) फेंकता है (मध्ये) बीच में (वामनम्) स्थित (वामनम्)सेवनीय जीवात्मा को (विश्वे, देवाः) समस्त प्राण और इन्द्रियां (उपासते) सेवन करते हैं ॥३॥

भावार्थः--कण्ठ और नाभि के बीच में हृत्पुण्डरीक देश है, जहां जीवात्मा अपने परिषद्वर्ग सहित विराजमान है। वहां उस की सेवा में समस्त प्राण और इन्द्रिय (जैसे भृत्यजन अपने स्वामी की सेवा में तत्पर होते हैं) तत्पर हैं। प्राण वायु को हृदय से ऊपर और अपान वायु को नीचे ले जाने से आत्मा को अवकाश मिलता है, जिस में वह उस प्रकाश को देखता है, जिस से यह सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते।एतद्वै तत्

सरलार्थः--(अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीरस्थ (देहिनः) आत्मा के (विस्रंसमानस्य) विध्वस्त होते हुवे अर्थात् (देहात्) देह से (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुवे (अत्र) यहां (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है (एतत्, वै, तत्) यही उस ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ॥ ४ ॥

भावार्थः--जो जिस के होने से होता और न होने से नहीं होता वह उसी का समझा जाता है। यह अ-

इसप्रकार का शरीर प्राण एवं इन्द्रिय कलापसहित आत्मा की विद्यमानता से ही विशेषित होता है। जब आत्मा इस विघरण होने वाले शरीर से पृथक् हो जाता है तब इस में कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् न प्राण चेष्टा कर सकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकती हैं, अर्थात् सारी शक्तियां और उन के काम इस के शरीर से अलग होते ही बन्द हो जाते हैं। अतः सात्त्विक ही शरीर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का भी साधन हो सकता है ॥ ४ ॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

पदार्थः-(कश्चन) कोई भी (मर्त्यः) मनुष्य (न, प्राणेन) न प्राण से (न, अपानेन) न अपान से (जीवति) जीता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिस में (एतौ) यह दोनों (उपाश्रितौ) आश्रित हैं (इतरेण) उस प्राण अपान से भिन्न आत्मा से (जीवन्ति) जीते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः-प्राण और अपान से कोई प्राणी नहीं जीता क्योंकि वे अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु ये सब जिस के आश्रित हैं अर्थात् जिस के होने से अपनी २ क्रिया करते हैं और न होने से नहीं वही इन सब का अधिष्ठाता आत्मा है और उसी से सब प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥ ५ ॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम !॥६॥

सरलार्थः—हे (गौतम) गौतम वंशोत्पन्न ! (हन्त) कृपा-पूर्वक (ते) तेरे लिये (इदम्) इस (गुह्यम्) अप्रकट (सनातनम्) अनादि (ब्रह्म) आत्मा को (प्रवक्ष्यामि) कहूंगा (च) और (यथा) जैसे (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्य) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—मृत्यु नचिकेता से कहता है कि हे गौतम ! मैं तेरे लिये उस सनातन ब्रह्म का उपदेश करूंगा जिस के जानने से मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है और उस को न जानने की दशा में जिस प्रकार यह जीवात्मा बारम्बार मेरे वश में होकर जन्म धारण करता है वह भी तेरे प्रति कहता हूं ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥७॥

सरलार्थः—(अन्ये) कोई (देहिनः) प्राणी (यथा कर्म, यथाश्रुतम्) अपने २ कर्म और तज्जनित वासनाओं के अनुसार (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (योनिम्) जङ्गम योनियों को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) कोई घोर पापाचारी (स्थाणुम्) स्थावर योनियों को (अनुसंयन्ति) मरणानन्तर प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो जन ब्रह्मज्ञान से विमुख हैं वे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय की रज्जु में बन्धे हुवे नाना प्रकार के जाति, आयु और भोगरूप फलों को प्राप्त होते हैं। जिनके शुभ कर्म अधिक हैं वे देवत्व वा ऋषित्व को, जिन के शुभाऽशुभ दोनों बराबर हैं वे मनुष्यत्व को और जिन के अशुभ कर्म अधिक हैं वे तिर्य्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं। जबतक वे उस शुद्ध और निर्विकल्प पद के अधिकारी नहीं बनते तब तक इसी प्रकार जन्म मरण के चक्र में घूमते हैं ॥ ७ ॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

सरलार्थः—(यः, एषः) जो यह अन्तर्यामी (पुरुषः) सब में व्याप्त (कामं, कामम्) यथेच्छ (निर्मिमाणः) सब जगत् को रचता हुवा (सुप्तेषु) सोतेहुवे जीवों में (जागर्ति) जागता है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) शुद्ध (तद्, ब्रह्म) वही सब से बड़ा (तद्, एव) वही (अमृतम्) अपरिणामी (उच्यते) कहाजाता है (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब लोक (श्रिताः) ठहरे हुवे हैं (तद्, उ) उस को (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। (एतत्, वै, तत्) यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भावार्थः—अब इस श्लोक में पुनः परमात्मा का वर्णन है। जो पुरुष त्रिगुणात्म प्रकृति से सारे जगत् को निर्माण करता हुआ सत, रज, तम इन तीन गुणों का यथायोग्य विभाग करता है और आप उन गुणों में लिप्त नहीं होता तथा उक्त गुणों की शय्या में सोते हुवे जीवात्माओं को भी कर्मानुसार फल देकर जो जगाता रहता है। वही शुद्ध और सनातन ब्रह्म है। उसी में ये पृथिव्यादि समस्त लोक आश्रित हैं। उस का कोई भी पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सकता॥ ८॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(यथा) जैसे (एकः, अग्निः) एक ही भौतिक अग्नि (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) व्याप्त हुवा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूपवान् वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक वस्तु के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) उन के रूपादि धर्मों से वह पृथक् है॥ ९॥

भावार्थः—अब अग्नि के दृष्टान्त से परमात्मा की व्यापकता का निरूपण करते हैं। जैसे एक ही अग्नि भिन्न २ पदार्थों में प्रविष्ट हुवा तत्तदाकार में प्रतिभासित होता

है। वस्तुतः अग्नि उन से पृथक् है। इसी प्रकार वह अन्तर्यामी परमात्मा भी सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक हुआ अज्ञानी पुरुषों को तत्तदाकारवान् सा प्रतीत होता है। वास्तव में वह उन से अत्यन्त भिन्न व विलक्षण है॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

सरलार्थः–(यथा) जैसे (एकः, वायुः) एक ही वायु (भुवनम्) लोक में (प्रविष्टः) फैला हुआ (रूपं,रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला (बभूव) हो रहा है। (तथा) वैसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का आत्मा (रूपं, रूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) तुल्य रूप वाला सा प्रतीत होता है (च) किन्तु (बहिः) वह उन से पृथक् है॥१०॥

भावार्थः–अब इसी आत्मसत्ता को वायु के दृष्टान्त से निरूपण करते हैं। इस का आशय भी पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

सरलार्थः–(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सर्वलोकस्य) समग्र संसार की (चक्षुः) आंख है। पर (चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः) चक्षुः सम्बन्धी बाह्य दोषों से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं

होता (तथा) ऐसे ही (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी आत्मा (बाह्यः) उन से अलग (लोकदुःखेन) संसार के दुःख से (न, लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भावार्थः—अब उसी विषय को सूर्य के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। जैसे सूर्य दर्शनहेतु होने से सारे जगत् की आंख है अर्थात् सूर्य के ही प्रकाश से अस्मदादि की आंखें भी प्रकाशित होती हैं। आंखों में व्याप्त हुवा भी सूर्य का प्रकाश आंखों के दोषों से दूषित नहीं होता। इसी प्रकार समग्र संसार में व्याप्त हुवा आत्मा भी सांसारिक दोषों में लिप्त नहीं होता, किन्तु सदा उन से पृथक् रहता है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(एकः) एक (वशी) सब जगत् को वश में रखने वाला (सर्वभूतान्तरात्मा) सब का अन्तर्यामी है (यः) जो (एकं रूपम्) समष्टि रूप से एक प्रधान कारण को (बहुधा) व्यष्टिरूप से नाना प्रकार का (करोति) करता है (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में स्थित परमात्मा को (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वतम्) सनातन (सुखम्) मुक्ति का सुख प्राप्त होता है (इतरेषाम्, न) अन्य संसारी पुरुषों को नहीं ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो एक इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने अटल नियमों से चला रहा है, जिस की आज्ञा वा नियम के विरुद्ध कोई काम जगत् में नहीं हो सकता और न कोई पदार्थ जिस का अतिक्रमण कर सकता है, जो सृष्टि की आदि में एक प्रकृति को नाना नाम रूपों में परिणत करके इस कार्यरूप जगत् को विस्तार देता है। उस अन्तर्यामी रूप से सब में अवस्थित परमात्मा को ध्यानयोग से जो धीर पुरुष देखते हैं वह मुक्ति को प्राप्त होकर उस परमानन्द का अनुभव करते हैं, जिस को संसारी पुरुष कदापि उपलब्ध नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

पदार्थः—(अनित्यानाम्) अनित्य पदार्थों में (नित्यः) नित्य (चेतनानाम्) चेतनों में भी (चेतनः) चेतन (बहूनाम्) बहुतसों में (एकः) एक है (यः) जो जीवों के प्रति (कामान्) कर्मफलों को (विदधाति) विधान करता है (तम्) उस (आत्मस्थम्) अन्तर्यामी को (ये) जो (धीराः) ध्यानशील (अनुपश्यन्ति) देखते हैं (तेषाम्) उन को (शाश्वतीशान्तिः) परमशान्ति है (इतरेषाम्, न) औरों को नहीं ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो परमात्मा अनित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतसों में एक है और जो जीवों के लिये

यथायोग्य कर्मफलों का विधान करता है। उस को जो ध्यानयोग से देखते हैं वे परमशान्ति के भागी बनते हैं, अन्य नहीं ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथन्नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

सरलार्थः—जिस (परमं, सुखम्) परमानन्द को (तत्, एतत्, इति) "वह यह है" इस प्रकार (अनिर्देश्यम्) अङ्गुली निर्देश से कहने अयोग्य (मन्यन्ते) मानते हैं। (तत्) उस को (कथं नु) कैसे (विजानीयाम्) जानूं (किम्, उ) क्या वह (भाति) प्रकाशित होता है (वा) या (विभाति) स्वयं प्रकाश करता है ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो सुख अनिर्देश्य है अर्थात् "वह यह है"। इस प्रकार अङ्गुली से निर्देश नहीं किया जा सकता, उस को हम किस प्रकार जान सकते हैं? क्या वह ब्रह्म जो उस आनन्द का कारण माना जाता है, प्रकाश के तुल्य भासित होता है अथवा सूर्यादि के सदृश स्वयं भासमान है? यह प्रश्न है ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

सरलार्थः (तत्र) उस ब्रह्म में (सूर्यः) सूर्य (न, भाति) नहीं प्रकाश कर सकता (न, चन्द्रतारकम्) चन्द्र

और तारागण का प्रकाश भी वहां मन्द पड़ जाता है (इमाः विद्युतः) यह बिजलियां भी (न, भान्ति) वहां नहीं चमक सकतीं (अयम्) यह (अग्निः) भौतिकअग्नि (कुतः) कहां से प्रकाश करे, किन्तु (तम्, एव, भान्तम्) उस ही स्वयं प्रकाशमान से (सर्वम्) सब सूर्यादि (अनुभाति) प्रकाशित होते हैं (तस्य) उस के (भासा) प्रकाश से(इदं,सर्वम्) यह सब (विभाति) स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है ॥१५॥

भावार्थः-इस से पहले श्लोक में पूछा गया था कि वह ब्रह्म सूर्यादि के समान प्रकाशित होता है अथवा स्वयंप्रकाश है। इस श्लोक में उस का उत्तर दिया जाता है कि उस ब्रह्म में यह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजुली आदि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते फिर अग्नि की तो कथा ही क्या है किन्तु ये सब सूर्यादि उसी से प्रकाशित हो कर प्रकाशक बनते हैं, वह स्वयं प्रकाश होने से किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि प्रलय में भी जब सूर्यादि का प्रकाश नहीं रहता वह हिरण्यगर्भ रूप से (जिस से सारे प्रकाश उत्पन्न होते हैं) अवस्थित रहता है॥१५॥

इति पञ्चमीवल्ली समाप्ता



अथ षष्ठी वल्ली प्रारभ्यते

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥ १॥

सरलार्थः—(ऊर्ध्वमूलः) ऊपर को मूल है जिस का (अवाक्शाखः) नीचे को शाखा हैं जिस की ऐसा (एषः) यह (अश्वत्थः) अनित्य संसार रूप वृक्ष (सनातनः) प्रवाह से अनादि है। उक्त अनित्य परन्तु अनादि वृक्ष जिस के आधार में स्थित है वह ब्रह्म (तद्, एव, शुक्रम्) इत्यादि पूर्ववत्॥ १॥

भावार्थः—कार्य के देखने से कारण का ज्ञान होता है इस लिये इस कार्यरूप जगत् को अधिष्ठान मानकर इस के अधिष्ठाता ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। इस समस्त सृष्टि में मनुष्य के प्रधान होने से उस के ही शरीर का वृक्षालङ्कार से वर्णन करते हैं। जैसे वृक्ष का मूल नीचे को और शाखा ऊपर को होती हैं इस के विपरीत इस मनुष्य शरीररूप वृक्ष का मूल अर्थात् शिर नीचे को और हस्तपादादि शाखायें ऊपर को होती हैं। अश्वत्थ इस को इस लिये कहागया है कि यह कल को ठहरेगा या नहीं इस का कुछ भी भरोसा नहीं। सनातन इस लिये है कि

प्रवाह से अनादि है अर्थात् जगत् के साथ साथ यह भी चला आता है। बस यह मनुष्यशरीर जिस में प्रधान है ऐसे इस विचित्र जगत् को रचकर जिस ने अपनी अमित महिमा का प्रकाश किया है वह ब्रह्म है। उसी में यह सारा संसार ठहरा हुवा है। उस के नियमों का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता॥ १॥

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२॥

सरलार्थः-(यत्, किञ्च) जो कुछ (जगत्) संसार है (इदम्, सर्वम्) यह सब (प्राणे) परमात्मा की विद्यमानता में (एजति) चेष्टा करता है और उसीसे (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है वह ब्रह्म (उद्यतम्, वज्रम्, इव) हाथ में शस्त्र लिये हुवे के समान (महद्भयम्) भय का हेतु है (ये जो मनुष्य (एतत्) इस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मृत्यु से रहित (भवन्ति) होते हैं॥२॥

भावार्थः-यह सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसी के भय से संसार के समस्त पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं कोई उस की मर्यादा को जो सर्गारम्भ में उसने स्थापित की है उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इस प्रकार जो उस की सत्ता और महिमा को जानते हैं वे मृत्यु को जीत कर अमर होजाते हैं॥ २॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥३॥

सरलार्थः-(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः) अग्नि (तपति) जलता है (भयात्) भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है (भयात्, च) भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) पवन चमकते और चलते हैं तथा (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) काल (धावति) दौड़ता है ॥ ३ ॥

भावार्थः-अब ब्रह्म की भयहेतुता दिखलाते हैं। अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु यह पांचों उसी के भय से निरन्तर अपना २ काम कर रहे हैं। हमारे पाठक यहां भय शब्द को देख कर चौंकेंगे और अपने मन में कहेंगे कि क्या अग्नि आदि जड़ पदार्थ भी किसी से डरा करते हैं? इस का उत्तर यह है कि यहां पर भय शब्द केवल इन की नियमानुकूलता बतलाने के लिये प्रयुक्त हुवा है नकि अस्मदादि के समान भय से शङ्कित वा व्यथित होने में ॥३॥

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥४॥

सरलार्थः-(चेत्) यदि (इह) इस जन्म में (शरीरस्य) शरीर के (विस्रसः) नाश होने से (प्राक्) पहिले (बोद्धुम्) जानने को (अशकत्) समर्थ होवे तो संसार के बन्धन से छूट जाता है, नहीं तो (ततः) आत्मा के न जानने से

(सर्गेषु, लोकेषु) विरचित लोकों में (शरीरत्वाय) शरीर धारण करने के लिये (कल्पते) समर्थ होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने से पूर्व ही उस भय के कारण ब्रह्म के जानने में समर्थ होते हैं, वे भय से मुक्त हो जाते हैं। इतर अज्ञानी पुरुष वारंवार सृष्टि में जन्म धारण कर मृत्यु आदि के भय से कांपते रहते हैं॥४॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्व लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

सरलार्थः— (यथा) जैसे (आदर्शे) दर्पण में प्रति बिम्ब दीखता है (तथा) तैसे (आत्मनि) शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा प्रतिभासित होता है (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में जागृत वासनोद्भूत संस्कार अविस्पष्ट होते हैं (तथा) तैसे (पितृलोके) सकाम कर्म करने वालों में आत्मा का दर्शन अविविक्त है (यथा) जैसे (अप्सु) जलों में (परीव) चारों ओर से स्पष्ट अवयव (ददृशे) दीखते हैं (तथा) तैसे (गन्धर्वलोके) विज्ञानी पुरुषों में आत्मा का दर्शन स्पष्ट रूप से होता है। (छायातपयोः, इव) छाया और आतप के समान विस्पष्ट (ब्रह्मलोके) मुक्ति दशामें ब्रह्म का दर्शन होता है ॥५॥

भावार्थः—जैसी और जितनी स्पष्टप्रतिबिम्ब देखने के लिये स्वच्छ आदर्श की आवश्यकता है, वैसी और

उसकी ही पवित्र आत्मा का दर्शन करने के लिये निर्मल एवं शुद्ध भाव से भावित अन्तःकरण की अपेक्षा है। जैसे स्वप्नावस्था में जागृत के व्यवहार स्पष्ट रूप से नहीं दीखते इसी प्रकार सकाम कर्म करने वालों को यथार्थ रूप से आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे जल में प्रति-बिम्ब स्पष्ट दीखता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुषों को स्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है। और जैसे छाया और आतप भिन्न २ और स्पष्ट अवगत होते हैं इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्म और प्रकृति (जिसे माया भी कहते हैं) का भेद और स्वरूप स्पष्टतया अवगत होता है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणांपृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥६॥

पदार्थः-(पृथगुत्पद्यमानानाम्) अपने २ रूपादि अर्थों को ग्रहण करने के लिये अपने २ आन्ध्यादि कारण से पृथक् २ उत्पन्न हुवे (इन्द्रियाणाम्) चक्षुरादि इन्द्रि-यों का उस चेतन स्वरूप आत्मा से (पृथक्, भावम्) अत्यन्त पार्थक्य हैं (यत्) जो(उदयास्तमयौ) उत्पत्ति और विनाश एवं प्रादुर्भाव या तिरोभाव आदि धर्म भी शरीर और इन्द्रियों के ही हैं आत्मा के नहीं। इस प्रकार (मत्वा) जान कर (धीरः) विवेकी (न, शोचति) शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

भावार्थः-जो लोग देहेन्द्रिय के व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं मानते,वे देहादि के नाश में अपना विनाश समझते

हुए रात दिन शोकसागर में डूबे रहते हैं, और यह समझते हैं कि मरते ही सारे सुखों का विलोप होजायगा । विपरीत इस के जो आत्मा को शरीर और इन्द्रिय तथा इन के उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से पृथक् समझते हैं, वे शोक से मुक्त होजाते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥८॥

पदार्थः-(इन्द्रियेभ्यः) शब्दादि अर्थ और उन के ग्राहक श्रोत्रादि इन्द्रियों से (मनः) उन का प्रेरक मन (परम्) सूक्ष्म है (मनसः) मन से (सत्वम्) सत्वगुण विशिष्ट बुद्धि (उत्तमम्) उत्तम है (सत्वात्) बुद्धि से (अधि) ऊपर (महान्, आत्मा) महत्तत्व है (महतः) महत्तत्व से (अव्यक्तम्) प्रकृतिनामक प्रधान कारण (उत्तमम्) सूक्ष्म है ॥७॥ (अव्यक्तात्) सब के उपादान कारण प्रकृति से (तु) निश्चय (व्यापकः) सब में व्यापक (च) और (अलिङ्गः, एव) जिस का कोई चिन्ह नहीं ऐसा (पुरुषः) परमात्मा (परः) अत्यन्त सूक्ष्म है (यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जानकर (जन्तुः) प्राणी (मुच्यते) छूट जाता है । (च) और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से प्रकृति और प्रकृति से भी अत्यन्त सूक्ष्म वह ब्रह्म है जो सब में व्यापक और लिङ्गवर्जित है उस ही को जान कर प्राणी देहादि बन्धन से छूटकर मुक्त होता है॥८॥

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अस्य) इस अचिन्त्य और अव्यक्त ब्रह्म का (सन्दृशे) समक्ष में (रूपम्) कोई रूप (न, तिष्ठति) नहीं ठहरता (एनम्) इस को (कश्चन) कोई भी (चक्षुषा) आंख आदि इन्द्रियों से (न, पश्यति) नहीं देख सकता (हृदा) हृदयस्थ (मनीषा) मनन करने वाली (मनसा) बुद्धि से (अभिक्लृप्तः) प्रकाशित हुवा जाना जासकता है। (ये) जो (एतत्) इस को (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) अमर (भवन्ति) होते हैं ॥९॥

भावार्थः—जब वह ब्रह्म अलिङ्ग और अव्यक्त है तब उस का दर्शन कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष में उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके इस लिये स्थूलदृष्टि से कोई पुरुष उस को नहीं देख सकता। हां अन्तःस्थ बुद्धि की मननात्मिका वृत्ति से (जो समस्त सङ्कल्प विकल्पों के शान्त होने से उत्पन्न होतीहै) इस आत्मज्योति का दर्शन होता है। इस प्रकार जो योगी

लोग उस ब्रह्म का दर्शन करते हैं वे अमृत होकर सदा आनन्द पद में रमण करते हैं ॥ ९ ॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुःपरमां गतिम् ॥१०॥

सरलार्थः-(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) पांच- ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न, विचेष्टते) विरुद्ध वा विविध चेष्टा नहीं करती(ताम्)उस को विद्वान् लोग (परमां, गतिम्) सब से उत्कृष्ट मुक्ति की दशा (आहुः)कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः-वह सन्तोषा बुद्धि क्योंकर प्राप्त हो सकती है ? यह कहते हैं । जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मनसहित ठहर जाती हैं अर्थात् अपने २ विषयों से उपरत होकर निस्तब्ध हो जाती हैं और बुद्धिभी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है । उस को योगीजन परम गति कहते हैं ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥११॥

सरलार्थः-(ताम्) उस (स्थिराम्)अचल (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों के रोकने को (योगम्, इति) योग (मन्यन्ते) मानते हैं (तदा) तब (अप्रमत्तः) प्रमादरहित (भवति) होता है (हि) जिस कारण (योगः)

यह योग (प्रभवाप्ययौ) शुद्ध और शुभ संस्कारों का प्रवर्तक तथा अशुभ और मलिन संस्कारों का निवर्तक है ॥११॥

भावार्थः—उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते हैं। पातञ्जल शास्त्र में भी योग का यही लक्षण किया गया है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्त की वृत्तियों को जो इन्द्रियों के द्वारा बहिर्गत होती हैं, रोकने का नाम योग है। इस योग दशा को प्राप्त हो कर मनुष्य विषयों से उदासीन हो जाता है और उस का हृदय शुद्ध भाव और पवित्र संस्कारों से भावित होकर मलिन और नीच संस्कारों से शून्य हो जाता है ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति॥१३॥

सरलार्थः—(न, चक्षुषा) न आंख से (न, मनसा) न मन से (नैव, वाचा) न वाणी से ही (प्राप्तुं, शक्यः) पाने योग्य है (अस्ति, इति) है ऐसा (ब्रुवतः) कहते हुवे पुरुष से (अन्यत्र) अतिरिक्त (तत्) वह (कथम्) क्योंकर (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥१२॥ (उभयोः) अस्ति नास्ति इन दोनों में (तत्वभावेन) तत्व की भावना से (अस्ति, इति, एव) है ऐसा ही (उपलब्धव्यः) जानना चाहिये (अस्ति, इति, एव) है ऐसा ही (उप

छडषस्य) जानने वाले को (तत्त्वभावः) तत्त्वभाव (प्रसीदति) प्रसन्न होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—वह ब्रह्म न तो वाणी से और न चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। इसी लिये वह आगम पर श्रद्धा न रखने वाले केवल प्रत्यक्षवादियों को उपलब्ध नहीं होता किन्तु जिनका "है" ऐसा उस पर विश्वास है वही उस को जान सकते हैं। है और नहीं है। इन दोनों में से "नहीं है" ऐसा जो विश्वास रखते हैं। वह इस जगत् को निर्मूल और निराधार मानते हैं। जो कभी हो नहीं सकता। इस लिये "है" ऐसा विश्वास रखकर ही उस को पाना चाहिये क्योंकि उस के बिना कभी तत्वों की सफलता अर्थात् जड़ परमाणुओं में कार्य बनने की योग्यता स्वयमेव होही नहीं सकती ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

पदार्थः—(यदा) जब (सर्वे,कामाः) सम्पूर्ण काम और उन की वासनायें (ये) जो (अस्य) इस पुरुष के (हृदि) हृदय में (श्रिताः) बसी हुई हैं (प्रमुच्यन्ते) छूटती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (अत्र) इस दशा में (ब्रह्म) परम पुरुष को (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः—जब सारी कामनायें और उन की वासनायें

जो चिरकालीन संस्कारों से जीवात्मा के हृदय में बंधी हुई हैं आत्मोपलब्धि से विशीर्ण हो जाती हैं तब वह मनुष्य मुक्त होता है क्योंकि वासना रज्जु के कट जाने से फिर कोई बन्धन का हेतु नहीं रहता। इस दशा में आत्म दर्शन की पूरी २ योग्यता इस को प्राप्त होती है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥

संस्कृतार्थः-(यदा) जब (इह) इस संसार में (हृदयस्य) हृदय की (सर्वे ग्रन्थयः) सारी गांठें (प्रभिद्यन्ते) टूट जाती हैं (अथ) तब (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः) मुक्त (भवति) होता है (एतावत्) इतना ही (अनुशासनम्) शास्त्र का उपदेश है ॥ १५ ॥

भावार्थः-कामनाओं की जड़ कब उखड़ती है? यह कहते हैं। जब इस मनुष्य के हृदय की यह शरीर मेरा है, धन मेरा है, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं; इत्यादि प्रकार के असत् प्रत्ययों को उत्पन्न कराने वाली सारी गांठें (जो अविद्या से पड़जाती हैं) विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान के शस्त्र से छिन्न भिन्न होजाती हैं तब वह मनुष्य कामनाओं के कुटिल एवं गहनचक्र से निकल कर मुक्त हो जाता है। बस यही शास्त्रों का सार रूप उपदेश है ॥ १५ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

सरलार्थः-(हृदयस्य) हृदय की (शतम्, एका, च)एक सौएक (नाड्यः) नाड़ी हैं (तासाम्) उन में से (एका) एक (मूर्द्धानम्) मस्तक में (अभि निस्सृता) जानिकली है (तया) उस नाड़ी के साथ (ऊर्ध्वम्) मस्तक के छिद्र से (आयन्) निकलता हुवा जीवात्मा (अमृतत्वम्) मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है (अन्याः) अन्य शत नाड़ियें (उत्क्रमणे) प्राण के निकलने में (विष्वङ्) नानाविध गतियों की हेतु (भवन्ति) होती हैं॥ १६॥

भावार्थः-योगियों के प्राण कैसे निकलते हैं? यह कहते हैं। मनुष्य के हृदय में सब एकसौएक नाड़ियां हैं उन्हीं की शाखा प्रशाखायें सारे शरीर में फैली हैं। उन में से एक नाड़ी (जो सुषुम्णा के नाम से प्रख्यात है) हृदय से सीधी मस्तक को चलीगई है। योगियों के प्राण इसी नाड़ी के द्वारा मस्तक के छिद्र में होकर निकलते हैं, जिस से वे पुनः संसार में लौट कर नहीं आते। इस के विपरीत जो आत्मतत्व से बहिर्मुख हैं ऐसे संसारी जन अन्य नाड़ियों के द्वारा अन्य शरीर के छिद्रों से प्राण छोड़ कर नानाविध योनियों में घूमते हैं॥ १६॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जना-
नां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृ-
हेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्र-
ममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

सरलार्थः-(अन्तरात्मा) जो अन्तस्थआत्मा (पुरुषः) शरीर में व्यापक (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला है वह (सदा) निरन्तर (जनानाम्) मनुष्यों के (हृदये) हृदय में (सन्निविष्टः) अवस्थित है (तम्) उस को (धैर्येण) धैर्य से (मुञ्जात्, इषीकाम्, इव) मूंज से जैसे सींक को निकालते हैं ऐसे (स्वात्,शरीरात्) अपने शरीर से (प्रवृहेत्) पृथक् करै (तम्) उस को (अमृतम्) न मरने वाला (शुक्रम्) पवित्र (विद्यात्) जाने ॥ १७ ॥

भावार्थः-अब ग्रन्थ का उपसंहार करता हुआ कहता है। मनुष्य को सब से अधिक अपना शरीर प्रिय है इसी से उस में राग भी अधिक है अर्थात् वह उपात्त शरीर को किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता किन्तु छोड़ने के नाम से उस को दुःख और उद्वेग उत्पन्न होता है। बस यही बड़ा भारी बन्धन है जिस में फंसा हुवा मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। इस लिये मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनैः २ शरीर के बन्धन से पृथक् करे। इस का यह आशय नहीं है कि आत्मघात करडाले। नहीं २ किन्तु शरीर के होते हुवे उसके सुख-दुःखादि धर्मों से आत्मा को पृथक् समझे अर्थात् शरीर मलायतन होने से अपवित्र और अनित्य होने से अपायी है परन्तु आत्मा असङ्ग होने से शुद्ध और नित्य होने से अविनाशी है। इस लिये वह शरीर और उस के

धर्मों में लिप्त नहीं होता। ऐसा समझने ही से मनुष्य बन्धनों को काट सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् । ब्रह्म प्राप्तो विरजो-ऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥१८॥

पदार्थः-(अथ) अब इस का फल दिखाते हैं (मृत्युप्रोक्ताम्) मृत्यु से कही गई (एतां, विद्याम्) इस विद्या को (च) और (कृत्स्नम्, योगविधिम्) सम्पूर्ण योग विधि को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (नचिकेतः) नचिकेता (ब्रह्म, प्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुआ और (विरजः) विरक्त (विमृत्युः) मृत्युभय से रहित (अभूत्) हुवा (अन्यः, अपि) अन्य भी (यः) जो (अध्यात्मम्, एव) अध्यात्मविद्या को ही (एवं, वित्) इस प्रकार जानता है वह भी संसार से विरक्त होकर मृत्युरहित होजाता है ॥ १८ ॥

भावार्थः-अब इस विद्या का फल वर्णन करते हैं । मृत्युप्रोक्त इस विद्या को सम्पूर्ण योगविधि सहित प्राप्त होकर नचिकेता संसार से विरक्त और जीवन्मुक्त हुवा । अन्य भी जो इस अध्यात्मविद्या को इस प्रकार प्राप्त होगा वह संसार के सब बन्धनों से छूट कर ब्रह्म के अ-नामय पद को प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं कर-वावहै । तेजस्विना वधीतमस्तु माविद्विषा-

वहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

सरलार्थः—परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों की (सह) एक साथ (अवतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) साथ २ (भुनक्तु) पालन करे। हम दोनों (वीर्यम्) आत्मिक बल को (सह) साथ २ (करवावहै) प्राप्त करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा पढ़ाया (तेजस्वि) प्रभावोत्पादक वा फलदायक (अस्तु) हो। हम दोनों (मा, विद्विषावहै) कभी आपस में द्वेष न करें और ईश्वर की कृपा से हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार के ताप शान्त हों ॥१९॥

भावार्थः—अब अन्त में प्रमादकृत दोषों की शान्ति के लिये गुरु शिष्य दोनों ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। हे परमात्मन्! हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये। आप की कृपा से हम दोनों अपने आत्मिकबल को साथ २ बढ़ावें तथा हमारा पढ़ा पढ़ाया और सुना सुनाया सब फलदायक हो और कभी हम आपस में द्वेष न करें। एवं आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों तापों से सदा हमारी रक्षा कीजिये। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति षष्ठी वल्ली समाप्ता

इति श्री बदरीदत्तशर्मकृता कठोपनिषद्भाषावृत्तिः समाप्ता

—※—